धर्मप्रेमी बन्धुओ ! ... ।।प सरलतासे आध्यात्मिक ज्ञान व...
... पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द मह...
इन प्रवचन और निबन्धोंको अवश्य पढ़िये । आशा ही नहीं अपितु पूर्ण ...
है कि इनके पढ़नेसे आप ज्ञान और शान्तिकी वृद्धिका अनुभव करेंगे ।

## अध्यात्मग्रन्थ सेट

| | |
|---|---|
| आत्मसंबोधन सजिल्द | १।।।) |
| सहजानन्द गीता सार्थ सजिल्द | १) |
| सहजानन्द गीता सतात्पर्य स० | २।) |
| तत्त्व रहस्य | १) |
| अध्यात्मसहस्री | १) |
| अध्यात्मचर्चा बड़ी | ।।।=) |
| अध्यात्मचर्चा छोटी | ।।) |
| द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका स० | ३।।) |
| आत्म उपासना | ।) |
| सामायिक पाठ | -) |
| स्वानुभव | =) |
| अध्यात्मसूत्र सार्थ | ≡) |
| तत्त्वसूत्र सभावार्थ | ।=) |
| एकीभाव स्त्रोत्र अध्यात्म ध्वनि | ।) |
| कल्याणमन्दिर स्तोत्र अध्या० | ।) |
| विषापहार स्तोत्र अध्यात्मध्वनि | ।) |
| समयसार भाष्य पीठिका | ।-) |
| समयसार महिमा | ।) |
| समयसार दृष्टान्तमर्म | ।।) |
| सहजानन्द डायरी १९५६ | २) |
| सहजानन्द डायरी १९५७ | २) |
| सहजानन्द डायरी १९५८ | १।।) |
| सहजानन्द डायरी परि० १९५९ | ।।) |

भागवत धर्म
मनोहर पद्यावलि
स्तोत्र पाठ पुञ्ज
सूत्र गीता पाठ
यह सेट लेने पर = प्रति रु० क...

## अध्यात्म प्रवचन सेट

धर्मप्रवचन
सुख कहां
प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग
प्रवचनसार प्रवचन द्वितीय भा...
प्रवचनसार प्रवचन तृतीय भाग
प्रवचनसार प्रवचन चतुर्थ भाग
अध्यात्म सूत्र प्रवचन पूर्वार्द्ध
अध्यात्मसूत्र प्रवचन पूर्वोत्तरार्द्ध
देवपूजा प्रवचन
श्रावकषट्कर्म प्रवचन
दार्शनिक सरल प्रवचन
समयसार प्रवचन प्रथम पुस्तक
समयसार प्रवचन द्वितीय पुस्तक
समयसार प्रवचन तृतीय पुस्तक
समयसार प्रवचन चतुर्थ पुस्तक
वर्णी प्रवचन फाइल प्रथम
" " द्वितीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

( ४३ )

# समयसार-प्रवचन

## द्वितीय पुस्तक

लेखकः—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

संपादकः—

महावीरप्रसाद जैन बैंकर्स सदर मेरठ।

प्रकाशकः—

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५, ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ।
उ० प्र०

सन्
१९६०

न्योछावर
२)

# श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्री मान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर

(२) श्रीमती फूलमाला जी धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रस जी जैन बैंकर्स, सदर, मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावलि;-

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(४) श्रीमती सोवती देवी जी जैन गिरिडीह
(५) श्री ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी नई मंडी मुजफ्फरनगर
(१४ श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन देहरादून
(१५) श्रीमान ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन आ० मजि० सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी जयपुर

(२०) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन जियागंज

(२१) ,, मंत्राणी जैन महिला समाज गया

(२२) श्रीमान सेठ सागरमल जी पाण्ड्या गिरिडीह

(२३) ,, बा० गिरनारी लाल चिरंजीलाल जी गिरिडीह

(२४) ,, बा० राघेलाल कालूराम जी गिरिडीह

(२५) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मन्डी मुजफ्फरनगर

(२६) सेठ छठदामीलाल जी जैन फिरोजाबाद

(२७) ,, ला० सुखवीर सिंह हेमचन्द जी सर्राफ बड़ौत

(२८) ,, सेठ गजानन्द गुलाब चन्द जी जैन गया

(३०) ,, बा० जीतमल शान्ति कुमार जी छावड़ा झूमरीतिलैया

* (३१) ,, सेठ शीतल प्रसाद जी जैन सदर मेरठ

* (३२) ,, सेठ मोहन लाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या जयपुर

* (३३) ,, बा० दयाराम जी जैन R. S. D. O. सदर मेरठ

* (३४) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन सदर मेरठ

* (३५) ,, ला० जिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दन कुमार जी जैन सहारनपुर

* (३६) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन रुड़की प्रेस रुड़की

× (३७) ,, ला० जिनेश्वर लाल श्रीपाल जी जैन शिमला

× (३८) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन शिमला

नोट— जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावों की स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नाम के पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने है।
श्रीमती बल्लोबाई जी ध० प० सिं० रतनचन्द जी जैन जबलपुरने संरक्षक सदस्यता स्वीकार की है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

( १ )

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

( २ )

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

( ३ )

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान

( ४ )

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहूँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

( ५ )

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहूँ "अभिराम" ॥

॥ अहिंसा धर्म की जय ॥

# समयसार-प्रवचन तृतीय पुस्तक

आत्माकी पर्यायोंकी सन्तति एक नाटक है। इन नाटकोंके करनेवाले ही देखने वाले हैं। वही करने वाला है वही देखने वाला है। जब इस नाट्य सभा के आत्म मंचपर ज्ञान उपस्थित होता है, उस समय ज्ञान उपस्थित होते ही नाटक देखने वाले इन अज्ञानी भोले संसारी जीवोंको यकायक विश्वास उत्पन्न करा देता है। यह अजीवाधिकारके प्रथम कलशकी उत्थानिका है।

जैसे—आप लोगोंने कभी-न-कभी नाटक देखा ही होगा। जब नाटक हो रहा हो, उस समय कोई अन्याय अत्याचारका सीन चल रहा हो, तब उस अन्यायका समूल विनाश करने वाला जब मंचपर उपस्थित होता है, उस समय दर्शकोंको आह्लाद हो जाता है। जिस समय नाटकमें यह प्रसंग चल रहा हो कि धवल सेठ श्रीपालके प्रति ऐसा अन्याय करने वाला है, उस समय दर्शकगण चिन्तित और आकुलित हो जाते हैं, जब स्टेजपर रक्षा करने वाला देव उपस्थित होता है, उस समय दर्शकगण हर्षसे गदगद हो ताली बजाने लगते हैं और चाहते हैं कि इस अन्यायी सेठको शीघ्र दण्ड दे डाले तो अच्छा है। उसी प्रकार जब मोहका नाटक चल रहा था, ज्ञान सामने आया तो उसने सभासदोंको विश्वास उत्पन्न कर दिया।

क्या मैनासुन्दरी नाटकमें रक्षक देवने स्टेजपर आते ही रैनमञ्जूपाके ही शोकको दूर किया? नहीं, अपितु रैनमञ्जूपाके साथ-साथ उस दृश्यको देखनेवाले उपस्थित सभासदोंको भी आह्लादित किया। जब यह ज्ञान नाट्य

भूमिमें सामने आता है, उसकी झलक देखकर ही दर्शकोंको विश्वास जम जाता है कि अब मोहका नामोनिशाँ न रहेगा। जब ज्ञान सामने आया तो जीव अजीवके भेदकी प्रबल दृष्टिके द्वार. ज्ञानके पहचानने वाले सन्तोंको विश्वास होगया कि हमारी रक्षा तो हो गई। इस अध्यायमें वर्णित आशंकाओंके हल करनेमें यह ज्ञान ही सर्वत्र काम देता है। शिष्य अनेक बातोंको आचार्यके सामने रखकर प्रश्न करता है कि महाराज, जो शुभ, अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, इनके उत्पन्न होनेकी जो सूक्ष्म सन्ततियाँ हैं, क्या वह आत्मा होगा? शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि महाराज, क्या यह आत्मा होगा, क्या यह आत्मा होगा? तब आचार्य परभावोंका निषेध करते हुए परम पारणामिक शुद्ध भावोंको सिद्ध करेंगे।

ज्ञानपात्रके आते ही आततायी मोहके हौंसले खतम हो जाते हैं:—

वह ज्ञान नाट्यभूमिपर उपस्थित हुआ तो आते ही उसने उपसर्गके बन्धन ढीले कर दिए, केवल विश्वास ही नहीं दिलाया, अपितु उस मंचपर रहनेवाले आततायियोके भी हौंसले बिगड़ गए और दर्शकोंको भी प्रसन्नता हुई। जिस प्रकारसे अन्यायको दूर करने वाला पात्र स्टेजपर उपस्थित होता है, तो आततायियों के हौंसले ढीले हो जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ज्ञान नाट्यभूमिपर आया तो अनादिकालसे बंधे हुए इन कर्मोंके तो हौंसले बिगड़े और दर्शक अपन लोगोंको आनन्द आया। जीव अजीवके विवेककी पुष्कल दृष्टिके द्वारा सभासदोंको विश्वास दिलाता हुआ ज्ञान प्रकट हुआ तब स्टेजकी शोभा बढ़ी, आततायियोंके हौंसले बिगड़े और स्टेजपर चमत्कार सा भी छा गया। इसी प्रकार यह मोह आत्मापर, अन्याय करता आ रहा था और भी बड़े उपद्रव हो रहे थे। इस पर मोह बड़ा भारी अन्याय कर रहा था, ऐसी स्थितिमें जब स्टेजपर ज्ञान आया, कुछ विशुद्धता जंचने लगी, दर्शकोंको कुछ शान्ति मिली, दर्शकोंको आनन्द आया और बन्धनोंके हौंसले बिगड़े। इस प्रकार श्रीमत् अमृतचन्द्र सूरिने बड़े कलात्मक ढङ्गसे इस बातका विवेचन किया है।

कीमत होती है, किसी अवसरपर बात बननेकी। जब मोह इस आत्माको परेशान कर रहा था, गुणोंको विकृत कर रहा था। ऐसे समयपर मंचपर

ज्ञान आता है, ऐसे समयकी कितनी बड़ी कीमत है। उस समय पहली वार आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय आत्मामें जितने कर्मोकी निर्जरा होती है, इतने कर्मोकी निर्जरा किसी समय नहीं होती है। ज्ञान होते ही सारा अनन्त संसार घट गया, यह कितनी वड़ी निर्जरा है, वादमें इतने कर्मोकी निर्जरा नहीं होती है रह भी तो थोड़ेसे जाते। जव यह ज्ञान इस आत्म स्टेजपर प्रकट हुआ तो एक साथ तीन वातें प्रकट हुई:–स्टेजपर चमत्कार, आक्रान्ताओंके वन्धन ढीले होना और सभासदोंको विश्वास होना। इतनी ही वात नहीं। आत्मारूपी वगीचेमें झक्कारे को उत्पन्न करता हुआ यह ज्ञान प्रकट हुआ। किसी आक्रांता पर जव कोई आक्रमण करता है उस समय यह आनन्द होता ही हैं।

यह ज्ञान नित्य उदित है :—

यह स्टेजपर आज आया। परन्तु था वह पहलेसे ही वह नित्य अन्तः प्रकाशमान है। जैसे वह देव आया आज ही था, वैसे वह था वहाँ पहलेसे ही। अतः उसको देखते ही दर्शकोंको आनन्द प्राप्त हुआ था। जिस ज्ञान नायकके देखनेपर जनताका अपार हर्ष हुआ और मोहके होश उड़ गए वह था पहिलेसे ही, किन्तु देखा गया अव।

जैसे मैंनासुन्दरीका नाटक चल रहा है, जव वह स्टेजपर आती है, उस समय दर्शकोंमें वड़ी उमङ्ग पैदा होती है ऐसी उमङ्ग शेष सीनोंके देखनेपर नहीं होती। नाटकोंका नायक जव सामने उपस्थित होता है, उस सययका सीन वड़ा ही आकर्षक होता है।

यह ज्ञान आत्माके गुणोंमें से मुख्य है, नायक है। जव जव आत्मामें ज्ञान आता है, तव तव पारिषदोंकी उमङ्ग ही और हो जाती है। किसी भी नाटकके नायक में ३ गुण होते हैं:—धीर, उदात्त और अनाकुल। तुम्हें जो चीज दिखानी होती है, उसकी महिमासे सम्वन्धित महिमा को करने वाला नायक होता है। मैंनासुन्दरीने रोग होनेपर भी कितनी सेवा की, यह उसकी उदारता थी। उसी प्रकार जव यह ज्ञान आत्ममंच पर उपस्थित होता है, उस समय वह धीर है, अनाकुल है और उदात्त है। उसने सभीको छोटा

को भी (मनको भी) प्रसन्न कर दिया। ज्ञानने आत्माको तो प्रसन्न किया है। मन केवल विषयोंसे प्रसन्न होता हो, यह बात नहीं, अपितु यदि यह आत्मा सत्पथमें चले तो वह अनुपम प्रसन्न रहता है। जब यह ज्ञान प्रकट हुआ तब इसने स्टेजपर क्या-क्या कार्य किये—वह विलास करता है। ज्ञानं को इस समय कोई कष्ट नहीं हो रहा है। किन्तु दर्शकोंकी बड़ी विपत्तियाँ दूर होगईं, महान् आक्रांताओं-मोह, राग, कषायोंको विनष्ट किया। ज्ञानको इसमें तनिक भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। ये सारी बातें ज्ञानकी सीधी सादी मुद्रासे ही प्रकट होगईं। अतः कहा गया है कि यह ज्ञानका विलास है। विलास माने जिस कार्यके करनेमें तनिक भी कष्ट न हो और कार्य हो जाये। यह ज्ञान यहाँ प्रकट हुआ। 'इस अधिकारकी पहली गाथामें आचार्य महाराज इस ज्ञानकी छत्रछायामें रह कर दूसरोंको सम्बोध रहे हैं :—

## गाथा

**अप्पाण मयाणंता मूढा हु, परप्पवादिणो केई।**
**जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥**

आत्माको न जानने वाले व परको आत्मा कहने वाले हैं मूढ पुरुष अध्यवसानको ही जीव कहते हैं तथा कितने ही मूढ कर्मको ही जीव प्ररूपित करते हैं।

अधि=आत्मामें जो कुछ भी निश्चय कर लिया जाता है उसे कहते हैं अध्यवसान। यह अध्यवसान शब्द सर्व विभावोंको अविशेषतया सूचित करने वाला है अथवा विभावोंकी वासनाको अध्यवसान कहते हैं। यह पर्यायमुग्ध प्राणी अध्यवसानको व और भी अन्य भाव व द्रव्योंको, जिनका वर्णन इस प्रसङ्गमें चार गाथाओंमें है, आत्मा मानता है। क्यों इन सबको आत्मा मानता है यह ? इसलिए मानता है कि उसके उपयोगमें आत्माका असाधारण लक्षण तो आया ही नहीं इसलिए आत्माके तथ्यको समझनेमें क्लीव है, अयोग्य है, अत एवं वह अपनेमें गुजरने वाले विभावोंमें मुग्ध होगया, विमूढ होगया।

अब वह तात्त्विक आत्माको न जानता हुआ नाना प्रकारके पर पदार्थ व परभावोंको आत्मा बकता है। उनमें से एक मूढ यह है जो अध्यवसानको आत्मा बता रहा है। इसका मन्तव्य है कि नैसर्गिक राग द्वेषसे कल्मापित जो अध्यवसान है वह जीव है। इसकी दृष्टिमें रागद्वेषका पुञ्ज ही यह जीव है तभी तो इसे रागद्वेष नैसर्गिक दीख रहे हैं। इन राग द्वेषोंसे मलीमस जो भीतरी निश्चय है, संस्कार है, वासना है वह ही जीव है। ये मोही लोग पर पदार्थको आत्मा समझने वाले हैं सो आत्माको न जानते हुए अध्यवसान और राग द्वेष कर्म आदि को जीव कह बैठते हैं। जीवसे अपरिचित कोई नहीं है। कोई आत्मासे किसी रूपमें परिचित है, कोई किसी रूपमें। यह मैं हूँ, शरीर मैं हूँ—ऐसे ज्ञानमें कुछ विवेक तो आया। दो बात तो कह दी, सो ऐसा नहीं। इसे देखते ही मैं हूँ—यह प्रतीति होनेमें मोहका जकड़ाव हुआ। यह मोह उन्हें क्यों बना? इसलिए कि उन्हें जीवकी पहिचान तो थी ही नहीं। जो गेहूँ और कूड़ाको समझ नहीं पाया, उसके लिए कूड़ा भी गेहूँ है और सारा गेहूं भी कूड़ा हैं।

इन गाथाओंमें आगे अनेक और सूक्ष्म भी आशङ्कायें होंगी। तीव्र और मन्द जो आत्मामें गुण हैं, वह तो आत्मा होगा यहाँ तक शिष्य. प्रश्न करेगा। अब दूसरा विमूढ महानुभाव कहता है कि कर्म ही जीव है, कर्मसे अतिरिक्त कोई जीव नहीं है। देखो भैया! क्या इसने अत्यन्त सूक्ष्म इस पौद्गलिक कर्मका अवगम करलिया? नहीं, उसको लक्ष्य करके यह ऐसा नहीं कह रहा, किन्तु यत्किमपि कुछ तो कर्मके नामपर मान रहा है। वह उसी विकल्पित कर्मको आत्मा मान रहा है।

जिस कर्मको यह मोही जीव जीव मान रहा है उसे यह अनादि अनन्त समझता है। अनादि अनन्त समझे विना किसीको जीव माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि अपनेको अध्रुव कोई नहीं मानता। अध्रुवको भी आत्मा माने तो उसे ध्रुवत्वरूपसे अङ्गीकार किए विना आत्मा नहीं मान सकता। अनादि अनन्त जिसके पूर्व और अपर अवयव हैं ऐसे एक संसरण रूप क्रियासे खेलता, लीला करता, विलास करता जो कर्म है वही जीव है। इसे भी ऐसा ही दीखता

कि जैसे कृष्णतासे अतिरिक्त कोई अङ्गार फङ्गार कुछ नहीं इसी तरह इस कर्मसे अतिरिक्त आत्मा फात्मा और कुछ नहीं है।

ज्ञानचेतनाका अनुभव न कर सकनेसे कितने ही मोही जीव किस किसको आत्मा मान बैठे हैं, कोई अध्यवसानको आत्मा कहता है तो कोई कर्म को आत्मा कहता है। ज्ञानचेतना वह स्थिति है, जिसमें रागादि विकल्पोंका अनुभव नहीं होता है। निर्विकल्प ज्ञानमात्र निजचैतन्य तत्त्वको ही मै देखता हूं और करता हूँ, इस प्रकारका अनुभवनमात्र ही ज्ञानचेतना है। ज्ञानके विकल्पको ज्ञान चेतनाका अविरोधी भाव कह सकते हैं।

विकल्प दो प्रकारके होते हैं:—(१) ज्ञानका विकल्प और (२) रागका विकल्प। जगतमें जो जैसे पदार्थ हैं उस तरहका प्रतिवेदन हो जाना ज्ञानका विकल्प कहलाता है। ज्ञानका विकल्प ज्ञानका लक्षण है। रागका विकल्प आत्माका लक्षण नहीं है। रागका विकल्प ज्ञानचेतनामें बाधक है। स्नेह, मोह होना भी ज्ञान चेतनामें बाधक है। ज्ञानका विकल्प सभी आत्माओं के साथ चलता है। रागका विकल्प मोह और रागमें चलता है। जितने काल ज्ञानचेतनाकी अनुभूति रहती है, उतने काल उपयोग बदलता याने विषम होता नहीं है। अतः वह उपयोग भी निर्विकल्प है। जीवका साथी ब्रह्मज्ञान है। आत्माका ज्ञान होना, यह स्थिति जीवका मित्र है। इसके अतिरिक्त दुनियामें अपना कोई साथी नहीं है। मोहमें ऐसा विश्वास हो जाता है कि पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सब मेरे हैं, मेरे आज्ञाकारी हैं और मेरा कल्याण करने वाले हैं। परन्तु उस मोहीको यह मालूम नही कि वे सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं, उनका परिणमन उनमें ही होता है, उनका परिणमन मेरेमें नहीं हो सकता है। उनके स्वार्थमें जब कोई बाधा आती है, फिर कोई ध्यान नहीं रखता है। अपनी निर्विकल्प परिस्थितिमें स्थित आत्मा-आत्मामें ही रमे तो इस जीवका आत्मा स्वयं साथी है। परके स्मरणसे कभी कहीं शान्ति नहीं मिलेगी, शांति मिलेगी तो अपने ही आपमें मिलेगी। सर्वत्र चले जाओ आपके लिये आप ही जिम्मेवार हैं। इस जगतमें मेरे सिवाय मेरा कुछ नहीं हैं। ऐसी वस्तुकी स्थिति है। जो धनके झुकावमें है, उन्हें क्लेश ही क्लेश है। जो अपनी

ओर झुका हुआ है, उसे शान्ति, सन्तोष न धैर्य है।

**ज्ञानी जीवके ज्ञानचेतना सतत होती है:—**

यदि यह विश्वा हो जाये कि मैं अमुकका कर्ता हूं तो जीवकी ज्ञान चेतना छूट जायेगी। यदि ऐसा मिथ्या विश्वास नहीं है तो जीवकी ज्ञान चेतना ज्योंकि त्यों बनी रहती है, उसका लेश भी नहीं बिगड़ता है। यदि कोई यह प्रतीति करे कि मैं परका स्वामी हूं परका कर्त्ता भोक्ता हूँ तो उसकी ज्ञान चेतना नष्ट हो जायेगी। परन्तु जब तक यह आत्मा अपना विश्वास सही रखता है तव तक उसे कैसे परबुद्धि कहा जा सकता है। यदि यह ज्ञानी परका भी ज्ञान व राग करे तो भी इसकी ज्ञान चेतना लुप्त नहीं होती। जो आनन्द अपने अनुभवमें है, वह आनन्द संसारके सब संग्रहोंमें भी नहीं है।

**प्रश्न—ऐसी स्थितिमें जबकि सम्यग्दृष्टि बाह्यकी स्थिसिमें हैं, तो क्या जीवके उपयोगमें बाह्य अर्थ नही होता है ?**

समाधानः—ज्ञानोपयोगका स्वरूप ही ऐसा है, ज्ञानोपयोगकी महिमा ही ऐसी है कि निश्चयसे वह केवल स्वका प्रकाशक है, परका नहीं। व्यवहारसे वह ज्ञानोपयोग स्व और पर दोनोंका प्रकाशक है। कभी कभी सम्यग्दृष्टिका उपयोग बाह्यमें भी जाता है, परन्तु उसका उस समय भी आत्माकी ओर उपयोग है, अतः उसे बाह्यमें आसक्ति नहीं रह सकती है। सम्यग्दृष्टिके जीवके सम्यक्त्वके माहात्म्यसे सम्यक्त्व उत्पन्न रहता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानमें एक प्रकारकी ऐसी विशुद्धता आ जाती है कि उसको विपरीत विश्वास बनाये भी नहीं बनता। जैसे किसीसे कहा जाये कि तुम एक मिनट को मानलो यह चीज हमारी नहीं है, मिथ्यादृष्टि कहेगा कि कैसे मानलें कि यह चीज हमारी नहीं है, किन्तु ज्ञानीमे इसके विपरीत होता है। देखो दोनोंमें कितना अन्तर है ? अतः ज्ञानी न स्वके विपयमें और न परके विपमें उल्टा विश्वास करता है। ज्ञानीके भी विश्वास है कि मेरी सम्पत्ति मेरे लिए ही है, मित्रके लिये नहीं है। और, करता है मित्रोंसे अनुराग। सम्यग्दृष्टि जीवके विश्वास भी रहे और पुत्रमें राग भी रहे तो क्या ऐसा नहीं हो सकता है ? उल्टी बात जिस

दिन आ पड़ेगी कि यह पुत्रादिके विना कुछ नहीं है, उस दिन ज्ञान चेतना नष्ट हो जायेगी। जव तक सम्यक्त्व है, तव तक क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्वके लाभ प्रायः एक से हैं। उपशम सम्यक्त्वकी अन्तर्मुहूर्त स्थिति है। क्षायिक सम्यक्त्वकी संसारमें ३३ सागर स्थिति है। क्षयोपशम सम्यक्त्वमें सूक्ष्म चलादि दोष हैं। इतना ही अन्तर है।

जिस प्रकार जिस समय आत्मा अपने विषयमें उपयोग करता है, उस समय आत्माका आत्मज्ञान कहलाने लगता है और आत्मा ज्ञेय हो जाता है, वहां पर भी वह स्वको जानता है। परमें उपयोग हो तवभी वह स्वकी प्रतीति से च्युत नहीं होता है। ज्ञेय वहां पर वही खुद होता है।

जैसे देहातोंमें वच्चे खेलने चले जाते हैं, रात होनेपर घर आना ही पड़ता है। जव वे खेलमें थे, तव भी उनकी प्रतीति थी कि हमारा घर यहां नहीं हैं, परन्तु उपयोग खेलमें था, यदि उनकी प्रतीति ही नष्ट हो जाती तो उनको घरकी याद आना ही नही चाहिये थी। यही वात सम्यग्दृष्टि जीव के है, प्रतीति वनी रहती है और उनका उपयोग अन्यत्र रहता है। सम्यग्दृष्टि के राग होता रहता है, परन्तु उनके प्रतीति ऐसी है कि हमारा राग नहीं है। जैसे कोई किसीके मर जाता है, उसको प्रतीति तो वनी रहती है कि यह हमारा कुछ था ही नहीं, परन्तु आंसू तो वहाने ही पड़ते हैं। वैसे ही इस ज्ञानी आत्माको प्रतीति तो वनी रहती है कि रागादि अव मेरा नही है, मेरे स्वरसतः उत्पन्न नहीं हुआ है तथापि उस उस प्रकारके उपादान निमित्तका ऐसा ही मेल है कि कर्मोदय उपाधिको निमित्तमात्र करके यह मलीमस योग्यतावाला जीव रागादिरूप परिणम जाता है। जीवका स्वभाव रागादि नही है तव वाह्य पदार्थ जो रागादि भावके विषय पडते है वे जीवके क्या हो सकते है। आत्मा परसे राग नही करता। आत्मा परको क्या रंगेगा।

चाहे निजको जानो या परको परन्तु जिनका यथार्थ विश्वास है, उनके शुद्धोपयोग है। आत्मा परको जाने या स्वको जाने—इसने आत्मामें कोई विगाड़ नही है, परन्तु आत्मामे प्रतीति वदलनेपर हानि होती है। विपरीत

श्रद्धा होनेपर अधिक हानि कुछ न हो तो उत्कर्ष भी नहीं होता है। जानने में कुछ भी आओ, यदि उसमें उपराग अथवा उपयोग नहीं है तो आत्माका उससे कोई बिगाड़ नहीं है। अपनी उपयोग मिको निर्मल बनाना अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

हे आत्मन्! तू चाहता तो यह था कि मैं सदा निराकुल रहूँ, परन्तु तुझे विपरीत श्रद्धा हो गई, अतः तू दुःखी हो रहा है। अतः सुख पानेके लिए तू इन सातों तत्त्वोंको तो देख। सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। मोक्ष मार्गके विपरीत तत्त्वोंपर आत्मरूप व हित रूप श्रद्धा करनेका नाम मिथ्यादर्शन है। हे आत्मन्! तू अपनेसे विपरीत तत्त्वों में श्रद्धा न कर। जैसा जो पदार्थ है, उस पदार्थका वैसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्या दर्शन है। मेरा कोई कुछ नहीं है, ऐसी श्रद्धा करनेमें आनन्द मिलेगा। यदि यह बात श्रद्धामें आगई कि निजका निज है और परका पर है तो आत्माका कभी कोई बिगाड़ नहीं होता है। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपकी परिणतिसे ही परिणमता चला जाता है। यदि तुम अपना जीवन सत्यकी श्रद्धाके अनुकूल बनाओ तो तुम्हारा जीवन ठीक चलेगा। तुम्हारा किसीने कुछ नहीं किया। सबकी दूकानें अलग-अलग चल रही हैं, वे ही ग्राहक हैं, वे ही विक्रेता उसीमें से उनको माल मिल जाता है, उसीमें से माल चला जाता है—ऐसी दूकान सबकी अपनी-अपनी चल रही है। ऐसी प्रतीति करो कि सारे संसारमें मैं स्वतन्त्र एक हूँ। सबसे अपरिचित रहकर भी अपने आप में परिणमता रहता हूँ। यह भी हमारा भ्रम है कि यह मुझे पहिचानता है। किसीके द्वारा कोई पहिचाननेमें नहीं आता है। ऐसे अपरिचयमें रहकर यह आत्मा अपने आपमें परिणमता चला जा रहा है। अपने आपमें इसका उपयोग जम जाये तो इस जीवका कल्याण हो जाए।

ज्ञाताका स्वभाव जानना है। हम और आपका ज्ञान इतना कमजोर है कि अपने ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना कर लेते हैं। परन्तु इससे श्रद्धामें कोई विशिष्ट गुण हानि नहीं होती है। जितना भी बन्ध होता है। वह प्रतीति के अनुसार होता है। आपका विश्वास आपके अनुसार नहीं हो पाया तो चाहे कितनी

भी तपस्या करते रहो, सब व्यर्थ है। बन्धको रोकने वाला आत्माका स्पर्श याने अनुभव ही है।

यहाँ आत्माके असाधारण लक्षण न जानने वाले एवं परको ही आत्मा समझने वाले एक पर्यायमुग्धकी मान्यता बताई जा रही है कि वह अध्यवसान से पृथक् कोई आत्मतत्त्व ही नहीं मान रहा है। उसका यह ठोक बजाकर कहना हो रहा है कि अध्यवसान ही जीव है। क्योंकि इससे अतिरिक्त अन्य कोई जीव पाया ही नहीं जाता, जैसे कि कृष्णता (कालिमा) से अतिरिक्त अन्य कुछ अंगार है ही नहीं। यह दृष्टान्त भी इस चतुरने कितना बढ़िया दिया है जिसमें अपना सारा भाव झलका दिया। अथवा यहाँ अन्य कोई कहने वाला है ही नहीं सो श्री पूज्य अमृतचन्द जी सूरिका कौशल देखो। अमृतचन्द जी सूरि सम्यग्दृष्टि, स्वानुभावी महापुरुष थे तभी मिथ्यात्वमें हो सकने वाली गलतियोंका भी ठीक ठीक वर्णन व उदाहरण दे रहे हैं। सुलझा हुआ ही पुरुष उलझन व सुलझनोंको यथार्थ प्रतिपादन कर सकता। पर्यायमूढ प्राणी मिथ्यात्वका यथार्थ वर्णन क्या करेगा वह तो बेहोश है। देखो यहाँ अंगार द्रव्यस्थानीय है और कृष्णता विकारस्थानीय है। मूढकी मान्यता है कि जैसे कृष्णतासे अतिरिक्त अंगार कुछ नहीं है इसी तरह अध्यवसानसे अतिरिक्त आत्मा कुछ नहीं है। अंगारको बुझाकर देख लो कालिमा मिलेगी सो जलते अंगारमें भी कालिमाके अतिरिक्त कुछ नहीं है। कोयलाके सारे पर्द खोल लो, धो धो करके देखलो, कलिमासे अतिरिक्त कुछ नहीं है। अंगार जलतेको भी कहते हैं, बुझेको, अधजलतेको भी कहते हैं। कहीं भी देख लो कालिमासे अतिरिक्त वह कुछ नहीं सो जैसे कृष्णताके सिवाय अङ्गार फङ्गार कुछ नहीं। इसी तरह अध्यवसानके अतिरिक्त आत्मा-फात्मा कुछ नहीं, ऐसी विभावमूढकी मान्यता है। वह खुलासेमें इस तरह नहीं कह पाता किन्तु झुकता इसी कुतत्त्व की ओर है।

**ज्ञान विकल्पसे सम्यक्त्व की क्षति नहीं :—**

सम्यक्त्वमें बाधा ज्ञानके विकल्पोंसे नहीं आती है। ज्ञानका विकल्प माने चीज ज्ञानमें आना। चीजके ज्ञानमें आनेसे सम्यक्त्वको क्षति नहीं पहुंचती है। सम्यक्त्वकी क्षति यही है कि या तो सम्यक्त्व मिट जाये या संवर और निर्जराकी हानि होजाये। आत्मामें रागद्वेष कषायादि भी होते रहें, मगर इनसे सम्यक्त्वकी हानि नहीं होती है। यह बात जरूर है कि राग-द्वेष मोह के आत्मामें परिणमनसे आत्माका विकास रुक जाता है, रागादि आत्माके विकासको नहीं होने देते, उसमें बाधक होते हैं:—परन्तु सम्यक्त्वको इनके होने से कोई हानि नहीं पहुंचती है। कषाय भी सम्यक्त्वका नाश नहीं करती हैं। कषाय होती रहें बार-बार होती रहें यह परम्परा सम्यक्त्वके नाशका कारण बन सकती है, वहाँ भी उनसे सम्यक्त्वमें बाधा नहीं पहुंची। विपरीत अभिप्राय से ही सम्यक्त्वकी क्षति हुई रागादिक बाधक अवश्य हैं। आत्मोत्कर्षमें यहाँ तो केवल स्वरूपकी दृष्टि रखकर वर्णन हो रहा है कि राग चरित्र गुणका विकार है वह सम्यक्त्वका विपक्षी नहीं। केवल सम्यग्दर्शन ही आत्माके उत्कर्षका कारण नहीं है, अपितु चारित्र भी तो आत्माके सुविकासके उत्कर्षमें कारण है।

कितने ही जीव जो विपरीत अभिप्रायमें पड़े हुए हैं, वे कहते हैं—अध्यवसान ही जीव है। रागद्वेष आदि विभावोंसे कलुषित परिणमन अध्यवसान कहलाता है। रागादि परिणामोंसे सम्यक्त्वका नाश नहीं होता, इनसे चारित्र की क्षति है। सम्यक्त्वके कारण जो संवर निर्जरा होती है, वह रागादिके होनेपर भी होती रहती है। सम्यक्त्वके रहनेपर रागका रहना एक दोष है। परन्तु राग चारित्रपर आक्रमण करता है, सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता है। आत्मामें जो रागादि परिणाम पाये जाते हैं, उसे अध्यवसान कहते हैं, रागादि भाव बुद्धिपूर्वक हों, या अबुद्धिपूर्वक हों, समझमें आते हों या न आते हों—रागादिसे कलुषित जो परिणाम है, उसे अध्यवसान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव अध्यवसानको जीव मान बैठा है। क्रोध मान-माया-लोभ-राग-द्वेष,

मद मोह भय करते हुए उन्हें यह प्रतीति रहती है कि यही (क्रोधादि) मैं हूँ। उसके आगे पीछे रहने वाला भी कोई है, यह भी उन्हें खबर नहीं रहती है। सम्यक्त्वमें चैतन्यमात्रकी ही प्रतीति होती है, रागादिक परिणाम मैं हूं, यह प्रतीति सम्यक्त्वमें नहीं होती है।

शंका—आत्मामें चैतन्यकी प्रतीति होने पर रागादि कैसे हो सकते हैं? समाधान—जैसे जब किसीका कोई इष्ट गुजर जाता है, वह भोजन भी करता है, सोता भी है, परन्तु प्रत्येक समय इष्टकी ओर चित्त रहता है। भोजन करते हुए भी उसे इष्टकी प्रतीति है, लेकिन भोजन भी करता ही है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके प्रतीति तो चैतन्य स्वभावकी है, कदाचित् आत्मामें रागादि भाव भी आये, परन्तु उनसे आत्माका विशेष विगाड़ नहीं है। आत्माका विगाड़ है तो विपरीत अभिप्रायसे है। वह राग जिस समय घनिष्ठ हो जाये कि विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करने लगे तो सम्यक्त्वमें तब बाधा होती है। रागादिभाव चार जातिके होते हैं—(१) अनन्तानुबन्धी, (२) अप्रत्याख्यानावरण (३) प्रत्याख्यानावरण (४) संज्वलन। अनन्तानुबन्धी राग तो मिथ्यात्व को पोषता है, संसारबन्धन कराता है। शेष राग उपभोगके हेतु तो हैं परन्तु संसार-बन्धन नहीं कराते अर्थात् मिथ्यात्वको नहीं पोषते। अनन्तानुबन्धी राग आदि परिणाम विपरीत अभिप्रायके उद्भावक ही हुए, लेकिन सम्यक्त्वका बाधक विपरीत अभिप्राय ही है। ऐसा सम्बन्ध होनेसे अनन्तानुबन्धी भी सम्यक्त्वकी घातक हुई।

राग-द्वेष-मोहादि जो अध्यवसान हैं, उनमें ही मानना कि यही मैं हूं यही विपरीत अभिप्राय है। राग भी विपरीत अभिप्राय है, परन्तु राग मिथ्या श्रद्धा नहीं है। स्वरूपपर दृष्टि दो, राग मिथ्या श्रद्धा नहीं है। राग राग है, राग चारित्र गुणका विकार है, परन्तु वह मिथ्या श्रद्धा रूप नहीं है। जीवका स्वरूप अध्यवसान मानने पर मुक्ति कैसे हो? कोई कहता है कि अध्यवसान ही जीव है। जैसे हमको उसने ऐसा क्यों कह दिया? ऐसा विषाद किया तो इसमें रागद्वेष रूप परिणमन ही "हम" हैं यह श्रद्धा निश्चित समझी गई।

असमानजातीय व्यञ्जन पर्याय ही उसका हम है। राग द्वेषसे कलुषित जो परिणाम हैं, वही "जीव" है, ऐसी मोहियोंकी कल्पना है। वे कहते हैं, जैसे कोयलेसे कालापन अलग नहीं है, उसी प्रकार राग द्वेष मोहसे अलग आत्मा है ही क्या ? अतः राग द्वेष होना ही तो जीव है। कोई लोग कहते हैं कि रागादिक मलके रूपसे ज्ञान होना ही जीव है। जैसे अंगारेसे "कालापन" कोई अलग चीज नहीं है, इसी तरह आत्मासे भिन्न राग-द्वेष-मोह नहीं हैं और रागादिसे भिन्न आत्मा नहीं है। अतः मैं जानता हूँ कि रागादि परिणाम ही आत्मा हैं।

(एक बार देहलीमें जब हम थे तो किसीने आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराजसे जिक्र किया कि:—)

"राग-द्वेष आत्मासे कतई नहीं छूटते हैं और राग-द्वेषके मन्द पड़नेपर मोक्ष हो जाता है।" यद्यपि प्रश्नकर्ताने यह प्रश्न हंस करके किया, परन्तु यह जचा कि उन्हें यही प्रतीति है कि आत्मासे राग द्वेष कभी छूटते नहीं हैं, जब रागादि अत्यन्त कम हो जाते है, यही मोक्ष है। उनकी ऐसी प्रतीति बनी थी अतएव वे इस भूलपर भ्रष्ट हो गए।

ज्ञानस्वभावकी झलक विना पर्यायबुद्धि ही रहती है। उस अवस्थामें यही श्रद्धा हो जाती है कि रागादि से अलग जीव है ही नहीं। सम्यक्त्वके लिए हानि यही है और यही सम्यक्त्वका दोष है। राग द्वेष भाव सम्यक्त्वके दोष नहीं हैं, और न ज्ञानके विकल्प ही सम्यक्त्वके दोष हैं। सम्यक्त्वका दोष, सम्यक्त्वका पूर्णतया विनाश हो जाना या कुछ क्षति हो जाना ही सम्यक्त्वका दोष हैं। संवर निर्जरा न होना, यही सम्यक्त्वका दोष है। यह तो सम्यक्त्वका सीधा दोष है। पापबन्धकी अपेक्षा पुण्यबंध भी कम होने लगना यह भी सम्यक्त्व का दोष हैं। सम्यक्त्वके रहते जो बन्ध होता है, वह विशेषतः पुण्यबंध है। यदि पुण्यबंधकी कदाचित् कमी हो जाय और पापबंध हो जाय, एतावतापि भैया ! सम्यक्त्वमें कोई हानि नहीं है। पापबंध होनेसे सम्यक्त्वमें कोई हानि नहीं है, मगर जहाँ पुण्य कम होने लगा और पाप अधिक होने लगा,

इससे सम्यक्त्वकी हानि है। एक बार गिर जाना उतना बुरा नहीं, जितना गिरते जाना बुरा है। गिरते जाना माने निरन्तर गिरना है। गिरते जानेमें बेहोशी है। अतः निरन्तर गिरनेसे सम्यक्त्वमें हानि है। जैसे बरसातमें पैर फिसलना "गिरना" है। मगर फिसलते जाना यह निरन्तर गिरते जाना है। पाप सम्यग्दृष्टिके भी होता है, मगर पाप निरन्तर होते रहने और पुण्य कम होनेमें सम्यक्त्वकी हानि है। पापके होनेमें हानि नहीं है, मगर पापके उत्कर्ष और पुण्यके अपकर्षमें हानि है। पुण्यका निरन्तर अपकर्ष होने लगे यह भी सम्यक्त्वकी हानिका कारण है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होना या सम्यक्त्वमें किन्हीं अंशोंका बढ़ना, या निर्जरा संवर विशेष रूपसे होने लगना—ये सब सम्यक्त्वके गुण हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्व होगया यह सम्यक्त्वका गुण है।

ज्ञानोपयोगमें आकार बनता है। इस आकारके बननेसे सम्यक्त्वकी क्षति नहीं होती। ज्ञानोपयोग न सम्यक्त्वके गुणका कारण है, और न दोषका कारण। क्योंकि ज्ञान और सम्यक्त्व गुण न्यारे-न्यारे हैं। ज्ञानकी क्रियासे सम्यक्त्वमें गुण दोष नहीं पड़ता है। सम्यक्त्वकी हानि होना, पाप बढ़ने लगना पुण्य घटने लगना—ये सब सम्यक्त्वके दोष हैं सम्यक्त्वकी क्षतिके कारण हैं। दर्शनमोहनीयके नष्ट होनेसे जो परिणाम होता है, वह सम्यक्त्व है। जैसे एक दर्पणमें तैल लगा है, कुछ मटमैला सा हो रहा है, उसकी सफाई करदी तो वह सफाई क्या चीज है? सफाई जो स्वच्छता है, उसके होनेपर जो चमक आई, उसे सफाई कहते हैं। सम्यक्त्व आत्माकी सफाई है:—जिस सफाईके होनेपर ज्ञान गुण प्रकट होता है, वह सफाई दर्शनमोहनीयके अस्त होनेपर होती है। ज्ञान न सम्यक्त्वरूप परिणमता न मिथ्यारूप। सम्यक्त्वके साथ रहनेवाले ज्ञानको सम्यक् कहते हैं, और मिथ्यात्वके साथ रहनेवाले ज्ञानको मिथ्या कहते हैं। जैसे काँचके हरे गिलासमें पानी हरा मालूम पड़ता है लेकिन पानी हरा नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान मिथ्यात्वके साथ मिथ्यारूप मालूम पड़ता है और सम्यक्त्वके साथ सम्यक्रूप। ज्ञानका काम है, जानना। जैसे

कोई मुनि है, उसके सामने उसका गृहस्थावस्थाका पुत्र जाये तो वह उसे जान मात्र लेगा, उसमें विकल्प नहीं करता, यदि कोई गृहस्थ हो तो वह पुत्रको पुत्र तो जान जाता है, परन्तु उसके साथ वह विकल्प भी करता है कि यह मेरा पुत्र है। भगवानका काम तो ज्ञाता दृष्टा रहना है, लेकिन मोहियोंके मिथ्या श्रद्धा विशेष है। ज्ञान तो बेचारा सरल है, उसका काम तो जानना मात्र था, लेकिन जानकर उसमें विकल्पादि होना मिथ्याज्ञानके व्यपदेशका कारण हो जाता है। भगवान् में और हममे कम बढ़का फर्क है। भगवान् तो पदार्थको जानते मात्र हैं, हम उसमें विकल्प भी तो करते हैं यही हमारा विशेष जानना है। जीवका कल्याण अकल्याण अस्तित्व गुणके परिणमनसे नहीं है। आत्मद्रव्यके साधारण गुणोंके कारण आत्माका भला बुरा नहीं है। योगके परिणमनसे भी आत्माकी भलाई-बुराई नहीं है। अरहन्त भगवानका कितना योग चलता है, परन्तु योगके परिणमन होनेसे उनमें कोई हानि नहीं पहुंचती। आत्माके अन्य गुणोंके परिणमनसे भी आत्मा.ी बुराई नहीं है। आत्माकी बुराई सम्यक्त्व और चारित्रगुणके विकारसे है। सम्यक्त्व और चारित्रके बिगड़नेपर आत्मा की हानि हुई। जहाँ सम्यक्त्वकी हानि हुई, वहाँ राग द्वेष मोहादि ही परिणमते है। वहाँ वे स्वयं वह है ऐसी प्रतीति होती है। जैसे कोई बच्चा धाय या ठगिनीके द्वारा पाला गया, वह उसी धायको या ठगिनीको अपनी माँ समझता है और कहता है। परन्तु कुछ बड़ा होनेपर मालूम पड़ा कि किसी ठगिनीने हमें पाला पोसा है, तो उस धाय या ठगिनीके प्रति प्रतीति हो जाएगी कि यह मेरी माँ नहीं है, परन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं उससे वह तुरन्त नहीं छूट सकता और उसे 'माँ' भी कहता रहेगा, मगर ज्ञान होते ही उसकी प्रतीति बदल गई कि यह मेरी माँ न.ीं है। इसी प्रकार इस संसारमें रहने वाले जीवकी जब प्रतीति बदल गई कि मैं एकहूं, शुद्ध हूं, चैतन्य मात्र आत्मा हूँ, जानना-देखना मेरा स्वभाव है, दुनियाके समस्त पदार्थ मेरेसे भिन्न हैं उन जीवोंकी पर पदार्थसे बुद्धि हट जाती है और स्वकी प्रतीति होने लगती है। फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि इनका त्याग नहीं हो पाता। राग द्वेष की परिणतियाँ आत्मामें होती रहें, परन्तु इससे सम्यक्त्वका बिगाड़ होने वाला

नहीं है। सम्यक्त्वकी क्षति मिथ्या अभिप्रायसे होती है। राग-द्वेपका होने लगना मिथ्या अभिप्रायका कारण बन जाता है। अतः राग-द्वेप भी नहीं करना। कोई कहता है कि कर्म विधना, ब्रह्मा, विधि-यही एक जीव है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं है। जो लगातार संसारकी परम्परासे क्रीड़ा करता हुआ चला आया है, वही जीव है। यह कर्म संसारमें खेलता हुआ चला आया, इसमें कर्मका क्या बिगाड़? क्षति तो आत्मा की हुई तभी तो यह कर्म की क्रीड़ा कहलाई। बहुतसे जीव कहते हैं कि कर्मके अतिरिक्त हमें चेतन वगैरह दिखाई नहीं देता है। भैया! सम्यक्त्वकी हानि होनेपर जीवके कैसे भाव हुए—इसका ही तो वर्णन चल रहा है।

कोई अन्तरात्मा कहते हैं:—

**अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।**
**मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥**

अन्य अज्ञानी जीव अध्यवसानोंमें तीव्र मंद अनुभावोंमें गत जो है। उसे जीव मानते हैं तथा अन्य अज्ञानी जीव नो कर्म (शरीर) को जीव मानते हैं।

यह एक तीसरा विमूढ पुरुप है जो जरा और चतुरसा है, इसके आशयमें यह बैठा है कि अध्यवसान कोई तीव्र अनुभागवाला है, कोई मन्द अनुभाग वाला है तो ये विशेष अनुभव तो मिटते चले जाते हैं तभी तो तीव्रसे मन्द और मन्दसे तीव्र होगा, परन्तु मैं (आत्मा) तो मिटने वाला नहीं सो अध्यवसान ही जीव नहीं है, किन्तु अध्यवसानकी संतान जीव है। इसको भी अध्यवसानके अतिरिक्त तो कुछ मिला नहीं और अध्यवसान कुछ बदलते दिखे साथ ही अध्यवसान अनादि अनन्त दिखे ऐसी स्थितिमें अध्यवसानकी संतानको जीव मान लेना प्राकृतिक बात है। कालिमाके अतिरिक्त कोयला क्या, कालिमाके अतिरिक्त अङ्गार क्या? इसी तरह अध्यवसानकी संतानके अतिरिक्त आत्मा भी कुछ नहीं है

भैया! विज्ञानघन परमानन्दमय निज प्रभुको प्रभुता भूलकर यह जीव कैसी कैसी पर्यायोंको धारण करता है, कैसा कैसा बरबाद होता है। मुफ़्त

भ्रममें दुःखी होता है यह। आत्मन् ! अब तो दृष्टि करो अपने प्रभुकी ओर। पूर्व गाथामें बतलाया था कितने ही मोही जीव अध्यवसानको आत्मा मानते हैं। कितने ही लोग कुछ ज़रा विवेक करते हैं सोचते हैं कि अध्यवसान परिणाम बदलते रहते हैं यह तो जीव नहीं है, परन्तु उन परिणामोंमें जो तीव्र मन्द विपाक होते हैं, उनमें जो रहता है, वह जीव है। तीव्रमन्द फलोंकी जो परम्परा है, वह जीव है। क्रोध जीव नहीं है, परन्तु क्रोधकी जो सन्तति है, वह जीव है। तीव्रमन्द और मध्यम जो फल हैं, इन तरीकोंसे होने वाले नाना प्रकार के अध्यवसान हैं उनमें रहने वाला जो संतान है वह जीव है। राग-जीव नहीं है, अपितु रागकी जो सन्तति है, वह जीव है। क्योंकि राग-द्वेष आदि विभावकी सन्ततिसे भिन्न कोई जीव नहीं है। राग-द्वेषसे भिन्न जीव मिल सकता है, परन्त राग-द्वेषकी सन्तानके अतिरिक्त जीव नहीं है, ऐसा लोग कहते हैं। जैसे क्षणिकवादी लोग कहते हैं कि आत्मा नया-नया पैदा होता रहता है, एक ही आत्मा लगातार नहीं रहता है। वर्तमानमें जितनी हालतें हैं उनका उतना ही आत्मा है। विचारोंका नाम ही आत्मा है। उनसे यह पूछा जाय कि जब विचारोंका नाम ही आत्मा है तो एक क्षणके बाद दूसरे ही क्षण एक दम विरुद्ध विचार क्यों नहीं चाते, अनुकूल विचार ही क्यों आते हैं ? जैसे दीपक जल रहा है, वह अनेक हैं। जितनी तेलकी बूंद हैं उतने ही दीपक हैं। एक बूंद जली वह एक ज्योति है, दूसरी बूंद जली, वह दूसरी ज्योति है। वे ज्योति अनेक हैं। परन्तु वे एक ही क्यों मालूम पड़ती है ? लोग दिया जलाते हैं कि लगातार वे बूदें जलने लगती हैं। लगातार जलनेके कारण वे एक मालूम पड़ती हैं। तो इसमें लगातारपनेका अर्थात् सन्तानभी तो जानता है इसी प्रकार विचारोंका नाम आत्मा है। एकके बाद दूसरा, दूसरेके बाद तीसरेके क्रमसे विचार आते रहते हैं अतः मालूम पड़ता है कि विचार एक ही आया। इस प्रकार विचार अनेक होते हैं। उन विचारोंकी जो सन्तान है वह जीव है। ऐसा भी कोई कहते हैं। विचार, राग, मोह आदिको देख-देख मोही जीव कहता है कि रागकी जो सन्तान चलती हैं, वही जीव है। इस प्रकार आत्माको न जानने वाले मोही जीव आत्माके विषयमें कहते हैं कि अध्यवसानकी

सन्तानें ही जीव हैं, क्योंकि इनके अतिरिक्त हमें कोई जीव नहीं दीखता है। कितने ही मोही कहते हैं कि शरीर ही जीव है। शरीरसे भिन्न कोई जीव नहीं है। जो नया बने, जो पुराना बने—इस प्रकार प्रवर्तमान जो शरीर है, वही जीव है, इसके अतिरिक्त जीव नहीं है—ऐसा आत्माको न जानने वाले कहते हैं।

यह एक चौथे प्रकारका विमूढ़ पुरुष है। यह शरीरको ही जीव मानता। उनमें भी कोई ठक्केके मूढ़ हैं, कोई चतुर मूढ़ है। भोले मूढ तो इस शरीरको ही जीव मानते हैं। शरीर मिट गया तो जीव मिट गया, शरीर होगया तो लो, जीव होगया ऐसी बुद्धि इनकी है। परन्तु जो चतुर चौथे विमूढ़ हैं वे कहते हैं कि नई पुरानी अवस्थामें प्रवर्तमान जो नो कर्म (शरीर) है वह जीव है। यह शरीर सामान्यको जीव कहरहा है। उसके नए नए प्रादुर्भाव अथवा विकास चलते रहते हैं। उन विशिष्ट शरीरोंका सन्तानभूत अथवा उन विशिष्ट शरीरोंमें व्यापक जो नोकर्म (शरीर) है वह जीव है इसके आशयमें। सो जैसे कृष्णताके अतिरिक्त कोयला और कुछ चीज नहीं है इसी तरह नोकर्मके अतिरिक्त जीव और कुछ चीज नहीं है।

भैया! यह तो ज्ञानियोंकी भाषामें अज्ञानियोंकी बात बताई जा रही है। अज्ञानी थोड़े ही जानता है कि यह नोकर्म है यही जीव है। वह तो उसको लक्षित करके यही मैं हूँ ऐसा अनुभव करता है। यदि कोई नोकर्म समझे तो कर्म भी समझना होगा फिर-और आगे बढ़ना होगा। प्रिय आत्मन्! अपनेपर अब तो दया करो इस शरीर विडम्बनाको ही आत्मसर्वस्व मानकर क्यों अपार कष्ट उठा रहे हो। बाह्यसे नेत्र बन्द करो अपनेमें ज्ञाननेत्र खोलो आत्मा स्वसंवेद्य चीज है। यहाँ लौकिक तर्कोंसे और इन्द्रियोंसे आत्माको जानना चाहते हैं। शरीरका नाम नोकर्म इसलिए कहा गया कि सुख दुखके खास कारण कर्म हैं, उसी प्रकार प्रायः दुखका कारण शरीर पड़ता है। नो = ईषत् थोड़ा। जैसे कर्म सुख दुखके कारण हैं, उसी प्रकार शरीर भी सुख दुखका कारण है। ऐसा नहीं कि नोकर्म के बिना सुख दुखका कर्म को पूरा अधिकार हो जाये। सहयोग सम्बन्धी जैसे कार्य नोकर्म (शरीर) करता है। नोकर्मसे भिन्न हमें कोई जीव दीखता ही नहीं, ऐसा किन्हीं लोगोंका कहना है।

शरीर ५ प्रकारका है:—औदारिक, वैक्रियक, आहारक तैजस और कार्माण। शंकाकार जो कहरहा है, उसके लक्ष्यमें अन्तिम चार शरीर नहीं हैं, केवल औदारिक शरीर है। शंकाकार तो औदारिक शरीरको ही लक्ष्य करके कहता है कि शरीर ही जीव है। कोई यदि चतुर शंकाकार होता वह कहता कि तैजस और कार्माण शरीर रूप सूक्ष्म नोकर्म जीव है जो कि जीवके साथ प्रति समय लगा रहता है वह स्थूल शरीर प्राप्त होनेके कारण बनते हैं, वह निरन्तर रहता है अतः शरीरसे भिन्न जीव है ही नहीं। जो पुनर्जन्म मानने वाले हैं, वे कहते हैं कि तैजस और कार्माणके अलावा जीव रहता ही नहीं है। जो पुनर्जन्म नहीं मानते हैं, वे कहते हैं कि शरीर नष्ट होता है तो जीव भी नष्ट होजाता है और शरीरके उत्पन्न होनेपर जीव भी उत्पन्न होजाता है। पञ्च-तत्त्व (भूमि जल, पावक गगन, समीर) से अलावा कोई शरीर नहीं है। शरीर ही जीव है, ऐसा कितने ही आत्माको न मानने वाले जीव कहते हैं। अभी तक आचार्य महाराज वे बातें बता रहे हैं कि जिन्हे मोही जीव सोच सकता है।

आत्मतत्त्वके अनभिज्ञ किसी किसी प्राणी की मान्यता है:—

## गाथा ४१

**कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।**
**तिव्वत्तणमंदत्तण गुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥**

अन्य कोई कर्मके उदयको ही जीव मानते है तो अन्य कोई कर्मके अनु भागको जीव मानते हैं जो कि तीव्र मंद गुणोंसे नाना रूप है। कितने ही जीव कर्मके उदयको ही जीव मानते हैं। कैसा है वह उदय याने फल ? जो पुण्य और पापके उदयमें आकर जीव पर आक्रमण करता है, उसीको कितनेही लोग जीव कहते हैं। पुण्य पापके माने शुभ और अशुभ भावके है। शुभ और अशुभ भावोंकेअतिरिक्त हमें कोई जीव नहीं नजर आता है। इन भावोंके अतिरिक्त भी क्या कोई जीव है ? पुण्य और पापके अतिरिक्त कोई जीव नहीं है, ऐसा वह

कहता है। कर्मका उदय, कर्मका विपाक ही जीव है। कोई सुख दुःखके अनुभवनको ही जीव मानते हैं:—

कितने ही जीव मानते हैं कि सुख-दुःखका अनुभवन ही जीव है, इसके अतिरिक्त कोई जीव नही है, सुख-दुःखके अलावा मोही जीवोंको कोई चीज समझमें नहीं आती है। साता-असाता रूप परिणाममें व्याप्त जो तीव्र-मन्द गुण, उन गुणोंसे भेदको प्राप्त होनेवाला जो कर्मोंका अनुभवन है, वही जीव है। सुख-दुःखमें न्यूनाधिक जो सन्तान चल रही हैं, उसे जीव कहते हैं। परन्तु ये सब यथार्थ वात नहीं हैं।

सुख दुःख क्या हैं ? यह आत्माके विकार हैं, आनन्द गुणकी पर्यायें हैं। आनन्द गुणकी तीन पर्याय हैं:—सुख, दुःख और आनन्द। आनन्द निर्विकार पर्याय है। आनन्द गुणकी विकृत पर्यायें सुख दुख हैं। जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे, उसे सुख कहते हैं और जो इन्द्रियोंको सुहावना न लगे, उसे दुख कहते है। आसमन्तात् नन्दति आत्मानम् इति आनन्दः। अर्थात् जो आत्माको चारों ओरसे समृद्ध करे, उसे आनन्द कहते है। शंकाकारकी दृष्टि निर्विकार पर्याय आनन्द तकभी नहीं पहुंच पाई है। वह कहता है कि सुख दुख रूप जो पर्याय हैं— वही जीव है, इस के अलावा जीव नहीं है। परन्तु आत्मा न सुख रूप है और न दुःख रूप है तथा न निर्विकार आनन्दरूप परिणमन ही जीव है, क्योंकि निर्विकार आनन्द तो वादकी अवस्था है, जीव तो इससे पहलेसे ही जीव था। नहीं तो जीव प्रारम्भसे अन्त तक निर्विकार होना चाहिए था ? आनन्द गुण भी जीव नहीं है। यदि आनन्द गुण मात्र ही जीव होता तो आनन्दमात्र ही जीव नजर आना चाहिए था। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदि अनेक गुणोंका समुदाय भी जीव नही है। सुख दुःख तो विकृत अवस्था है वह जीव नहीं है यह तो जल्दी स्पष्ट हो जाता है। तुम्हारी समझमें आने वाले अनेक गुणोंका एक नाम जीव है। "सम गुण पर्यायो द्रव्यम्"। जैसे पत्ता, कोंपल, फल, फूल, बीज, शाखा—इन सबका एक नाम एक वृक्ष है। वास्तवमें यह भाषा गलत है कि वृक्षमें फूल लगे हैं। अरे, इन सबका नाम ही तो वृक्ष है। इसी

प्रकार यहाँ जितने भी अनेक गुण हैं, उन व गुणोंका जो एक पर्यायवाची शब्द है, उसका नाम आत्मा है। आत्मा तो अभेद रूप है। उसके गुणरूप भी भेद नहीं किये जा सकते हैं। इस तरह आत्मा और स्वभाव ही वह गुणके भेदरूप भी जीव नहीं कहा जा सकता है। यहाँ कोई यह कहता है कि विचारों के समूहका नाम ही जीव है। यहाँ पर दृष्टियोंके समूहका नाम ही जीव कहा गया है, ऐसी उनकी मान्यता है। जीवोंका यह अनुभव है कि सुख दुखके अलावा जीव है ही क्या ? मालूम पड़ता है, आचार्य महाराज जिनको सुना रहे हैं, उनके मनमें यह श्रद्धा जमी हो, परन्तु कह न पा रहे हों कि सुख दुःख के अलावा कोई जीव नहीं है। जीव कोई भौतिक चीज तो है नहीं, जो सामने लाकर रख दिया जाये, यह स्व संवेद्य है।

### शुभ, अशुभ भाव भी जीव नहीं हैः—

कोई कहते हैं कि तीव्र मन्द गुणोंकर भेदको प्राप्त हुए नाना प्रकारके शुभ अशुभ भाव जीव हैं। विषय गोपनेके भाव व उन्हींसे सम्बन्धित कषाय भावके उपयोग को अशुभ भाव कहते हैं और सेवा, सद्विचार, लोकहित भावना आदि मन्दकषाय से होनेवाले उपयोगको शुभ भाव कहते हैं। साता रूप (राजी होने रूप) परिणामको सुख कहते हैं और असातारूप परिणामको दुःख कहते हैं। जैसे शुभ अशुभ कर्मके उदय हैं अतः जीव नहीं है इसी प्रकार सुख दुःख भी कर्मके विपाक हैं अतः जीव नहीं है। शुभ अशुभ भाव और सुख दुःखमें क्या अन्तर है इसको दिखाने के लिए पूज्य श्रीमद् अमृतचन्द जी सूरिने शुभ अशुभ भावके लिए कर्मका उदय शब्द दिया है और सुख दुःखके लिए कर्मका अनुभाग शब्द दिया है। शुभ अशुभ भावमें तो कर्त्तव्य का भाव चलता है व सुख दुःखमें भोक्तत्त्वका भाव चलता है। उदय अल्पस्पर्शी है, अनुभाग दृढ़स्पर्शी है।

यह एक पांचवें प्रकारका विमूढ़ पुरुष है जिसकी मान्यता है कि कर्मविपाक ही जीव है। कर्मविपाक शुभ और अशुभ भाव है जो कि पुण्य और पापरूपसे सारे विश्वको व्याप रहा है, आक्रान्त कर रहा है। इसने भीतर देखा तो कुछ

और खाली राग द्वेष व अध्यवसान भावमें जीव माने जानेका सन्तोष नहीं हुआ इसे। यह कुछ उपयोगके समीप आरहा है किन्तु उपयोगकी स्वच्छताके मर्मको नहीं पा सका है। इसी कारण शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे अतिरिक्त कुछ जीव न दिखा। अब छट्ठे प्रकारके विमूढ पुरुषका मन्तव्य देखें—वह कर्मके अनुभव को जीव मानता है। यहाँ अनुभव कहनेसे सुख दुःखका ग्रहण करना है। सुख दुःखके अतिरिक्त कोई जीव नहीं, सुख दुःख रूप अनुभव ही जीव है। सुख दुःख रूपमें जो कर्मका अनुभव चलता है, वह जीव है यह अनुभव ही तीव्र मंदत्त्व गुणों (डिग्रियों) के कारण नाना भेदरूप है। सो नाना रहो किन्तु साता असाता रूपसे सदा अभिव्याप्त है। इसकी मान्यतामें सुख दुःखके अलावा कुछ जीव है ही नहीं।

अहो आत्मन्! तुम चैतन्यपिण्ड, सहजानन्दस्वरूप हो। यह क्या तेरी गति हो रही है, मति हो रही है कि विकल्पविडम्बनाकी परेशानीसे छुट्टी ही नहीं पाते। ऐहिक सुख दुःखमें इतने आशक्त होगए हो कि सुख दुःखके अतिरिक्त तुम कुछ सहज विलक्षण स्वरूपवाले हो यह सुननेको भी तैयार नहीं होते। यह छटा छटाया छट्ठा मूढ सुख दुःखके अतिरिक्त कुछ जीव ही नहीं मानता।

## * गाथा *

**जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति।**
**अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥**

**आत्माके बारेमें लोगोंकी क्या-क्या धारणाएं हैं:—**

कोई कहते हैं कि जीव और कर्मका मिश्रण जीव है। वैसे जीव और कर्म इन दोनोंका मिश्रण जीव है, यह बात अज्ञानी नहीं समझता है, क्योंकि उन्हें खाली जीव और कर्म दिखा नहीं, कर्म कभी दृष्टिमें नहीं आया—अतः अज्ञानी जीव उन दोनोंके मिश्रणको जीव तो कहता है किन्तु उनकी स्वयं स्वयंकी सत्ता न जानकर कहता है।

इस सातवें विमूढ पुरुषको शुद्धसत्ताक जीव तो समझमें आया नहीं और

कर्मको जीव कह सकता नहीं। इतना तो जानता है कि जिसमें सुख, दुःख, जानकारी आदि होरही वह जीव है, पर वह सब दिख रहा है कर्मके नाट्यमें। अतः न केवल जीव इसकी समझमें आत्मा है, न केवल कर्म इसकी समझ में आत्मा है। इनका उभय ही आत्मा है ऐसा यह सप्तम विमूढ मानता है, चाहता है। इस कल्पित स्वरूपसे ही बने रहनेकी चाह है इसकी अब अष्टम विमूढकी बात देखिये—यह कर्मोंके संयोगको ही जीव मानता है। अर्थ क्रियामें समर्थ कर्मका संयोग ही तो है। भिन्न-भिन्न रूपसे कर्म रहें तो वे क्या कर सकते हैं। खाटमें आठ काठ होते हैं—४ मिचवा, २ पाटी, २ सीरा। ये भिन्न-भिन्न रहें तो ये पुरुषके सुलानेमें समर्थ हैं क्या। इनका संयोग करके बुना दो फिर काम करेंगे ये। इनका संयोग कोई अलग चीज नहीं।

कितने ही अज्ञानी कर्मोंके संयोगको जीव कहते हैं। जैसे—ईंटोंके संयोग से भित्ति है और आठ काठके संयोगका नाम खाट है, उसी प्रकार आठ कर्मोंके संयोगका नाम ही जीव है। जैसे आठ काठके विना कोई खाट नहीं होती है, इसी प्रकार यह अज्ञानी कहता है कि आठ कर्मोंके संयोगके विना जीव नहीं है। उक्त सब कल्पनायें मोहमें होती हैं।

## ※ गाथा ※

**एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।**
**ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥**

इस तरहके बहुतसे दुर्बुद्धि जन परको ही आत्मा मानते हैं। वे परमार्थवादी नहीं है ऐसा निश्चयवादियोंने निर्दिष्ट किया है।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारकी कल्पना करने वाले जीव परमार्थवादी नहीं है—इस प्रकार बहुतसे लोग परपदार्थोंको आत्मा कह देते हैं। चैतन्य स्वभावके अतिरिक्त जो कुछ भी है, सो सब पर है। अतः शरीर कर्म, राग-द्वेषकी परम्परा आदि सभी पर हैं। एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे देखा गया आत्मा तो निज है, इसके अतिरिक्त सब पर हैं। जिनकी बुद्धि सोई हुई है, वे परको आत्मा कहते हैं। निश्चय तत्त्वको मानने वालोंने बताया है कि वे

परमार्थवादी नहीं हैं। यह वही बतायेगा, जिन्होंने परमार्थको जाना है। एक के जानने में अनेकका निषेध हो सकता है। जो अनेकका निषेध करेगा, उसे इस एक चीजका पता है, तभी तो निषेध करेगा। आत्माकी जानकारी सबसे बड़ी चीज है।

देखो जो विमूढाष्टक द्वारा आठ कुतत्त्वोंमें तत्त्वकी कल्पनाकी है उनमें से अध्यवसान तो जीवका परिणमन है, किन्तु वह नैसर्गिक नहीं है, औपाधिक है, अध्रुव है अतः पर तत्त्व है, जीव नहीं है। कर्म तो पौद्गलिक है, अजीव प्रकट ही है। अध्यवसानकी संतान कल्पना है, प्रत्येक अध्यवसान भाव अपने समयमें उस जातिकी परिपूर्ण पर्याय है उसका अगले समयमें व्यय हो जाता है वह द्रव्य तो है नहीं जिसकी संतानरूपमें कल्पनाकी जावे। शरीर (नोकर्म) तो प्रकट अचेतन है। कर्मोदयजनित भाव (शुभ अशुभ) भाव औपाधिक भाव हैं, परभाव हैं, अध्रुव है वह जीव नहीं है। जीव तो परमार्थतः शुद्ध चेतनामात्र है। सुख दुःख आदि भी इसी तरह इन्हीं कारणोंसे जीव नहीं है। कर्म और जीवका मिश्रण तो हो नहीं सकता क्योंकि वे जुदे-जुदे पदार्थ हैं। अपना अपना अस्तित्व रखनेवाले दोनोंका समुदाय भी जीव नहीं है। कर्म अचेतन हैं उनका संयोग भी जीव नहीं है। आत्मा तो इनसे परे निजचैतन्यस्वभावमात्र है। इसका प्रकट अनुभव तो निज ज्ञायकस्वाभावके उपयोग द्वारा एकल होनेकी स्थितिमें होता है।

आत्मज्ञान होनेके बाद विकारका अभाव हो जाता है। उसके संसार बढ़ाने वाला बन्ध नहीं है। जैसे किसी महाजनके यहाँ लाखों रुपएका कर्जा होता था वह निपटा दिया जावे सिर्फ मामूली सा कर्जा शेष रहे तो वहाँ सौ-दो सौ रुपएके कर्जकी गिनती नहीं होती है। परको आत्मा कहने वाले जीव परमार्थ वादी नहीं हैं।

## ✻ गाथा ✻

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलि जिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति च्चंति ॥४४॥

ये समस्त भाव पुद्गलद्रव्यके परिणामसे निष्पन्न हैं ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहा गया है । अतः वे जीव हैं ऐसा कैसे कहा जा सकता है ।

कोई कहते हैं कि जो हममें राग-द्वेष उठ रहे हैं, वही जीव है । यदि राग द्वेष ही जीव है तो राग-द्वेष ही करते रहो । यदि राग द्वेपादिको जीव न माना तो रागादिसे छुटकारा मिल सकता है । जहाँ राग-द्वेष मैं हूँ, वहाँ "मैं" को कैसे मिटाया जा सकता है, इस प्रकार वन्धन नहीं छूट सकता है । आत्माके आश्रय से वन्धन छूटता है क्षणिकके आश्रयसे वन्धन नहीं छूटता है ।

कुछ तो चीजें ऐसी हैं, जो पुद्गलके निमित्तसे हुई हैं और कुछ ऐसी हैं कि जो पुद्गल द्रव्यका परिणमन है । अज्ञानी इन दोनोंको जीव मानता है । पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे राग-द्वेप, साता-असाता, शुभाशुभ भाव होते हैं, ये पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुए परिणमन है । पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुए वे भी जीव नहीं हैं, जो पुद्गल द्रव्यके परिणमन है, वे भी जीव नहीं हैं, सवसे पहले यह श्रद्धा करनी है कि शरीर मैं नहीं हूं । यह बात जल्दीसे सीखी जा सकती है, क्योंकि औरोंके सिर जलाते प्रतिदिन देखे जाते हैं । वहुतसे लोगोंको यह अनुभव होता है कि जैसी हमारी बुद्धि होती है, वैसी किसी की है ही नहीं । जैसा हमारा पुण्य हैं, वैसा किसीका है ही नहीं मरने वाले तो और कोई होंगे मैं सदा जिन्दा रहूँगा परन्तु यह सब अज्ञानीकी कल्पना है । भिखारी भी यहीं मानते हैं कि जैसी हममें चतुराई है, वैसी किसीमें है ही नहीं । जीवको अपने अपने वारेमें ऐसी श्रद्धाएं जमी हुई हैं ।

सम्भव है कि जिनमें आज बुद्धि नहीं है. वे इसी पर्यायमें या किसी अन्य पर्यायमें हमसे अधिक ज्ञानी वन सकते हैं । रागमें कोई सफल नहीं होता है, परन्तु वह मानता है कि मैं रागमें सफल हो गया ।

कितने ही लोग मानते हैं कि राग-द्वेष ही जीव है, क्योंकि जीवने अपने को एक समय भी रागद्वेष से रहित अनुभव नहीं किया है अतः अज्ञानी रागादिको ही जीव मानता है। अज्ञानी मानता है कि रागही मैं हूं, रागही मेरा सब कुछ है और वह ऐसी श्रद्धा रखता है कि मैं रागसे अलग नहीं हो सकता हूँ।

जिन बच्चोंके मनमें यह भाव भरा रहता है कि मैं परीक्षामें सफल न हो पाऊंगा तो वह पास नहीं हो पाता है। राग-द्वेष मैं इसलिए नहीं हूँ कि ये पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं। जैसे दर्पण है, दर्पणमें हरा रंग दिखाई देता है। ज्ञानीको यह पता है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पण की चीज नहीं है। सामने निमित्त आया, हरा प्रतिबिम्ब हो गया। यह जो दर्पणका स्वभाव है कि निमित्त पावे इस रूप परिणम जावे। मलिन जीवकी भी कुछ ऐसी आदत है कि निमित्त पावे रागद्वेष रूप परिणम जावे। अतः रागद्वेषमैं नहीं हूं।

ये रागादि चैतन्य स्वभाव रूप नहीं बन सकते हैं, क्योंकि रागद्वेष आदि का स्वभाव चैतन्य नहीं है। जब स्वानुभव होता है तब उपयोग आत्माकी ओर लगा रहता है, शुद्ध द्रव्य रूप आत्माकी ओर उपयोग लगता है। ऐसे उपयोगके समय भी रागादि द्रव्य चलते रहते हैं, परन्तु उपयोग उन्हें नहीं पकड़ रहा है। ये रागादि भाव आत्मामें होते हैं, होने दो, इससे आत्माका क्या बिगाड़! मैं तो चैतन्य मात्र ज्ञान वाला आत्मा हूँ। यदि आत्माको चेतना आप दिख जाये तो रागादि अबुद्धि पूर्वक ही होते रहेंगे।

जितनी भी बातें ऊपर बताई गई हैं, ये जीव द्रव्यके हो नहीं सकती। अतः रागादि जीव नहीं हो सकते हैं। रागादिको जीव माननेमें आगमसे बाधा, युक्तिसे बाधा, स्वानुभवसे भी बाधा आती है। इतना तो निश्चित है कि यदि यह जीव विषय कषायकी ओर उपयोग लगाता तो दुःखी होता और यदि चैतन्य स्वभावकी ओर ध्यान लगाता है तो सुखी होता है। यदि हम पर पदार्थकी ओर उपयोग लगाते हैं तो उसका फल केवल आकुलता हीहै। क्योंकियदि इसमें

ऐसा उपयोग लगाया तो ऐसा ही परिणम जाना चाहिये लेकिन परिणमता नहीं है, किन्तु अज्ञानीका इसकी ओर उपयोग है, अतः अज्ञानीको दुःख स्वयमेव होता है। यदि अखण्ड चित्स्वभावकी ओर दृष्टि लग जाये तो शांति मिलती है। हम वैसा विचार वना पायें, चाहे न वना पायें, लेकिन जीवके वह अनुकूल है। आगम, युक्ति आदिसे वाधा होनेके कारण शरीर रागादिको जीव मान लेना मिथ्यात्व है। जिन-जिनको मोही जीवने आत्मा माना, वे चीजें या तो पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं या पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुई हैं, ये दोनों ही जीव नहीं हैं। मैं इनसे अलग एक शुद्ध आत्मा हूँ।

जीवनका उत्तम लक्ष्य वनाना चाहिये, कैसे ही वनें अपने उद्धार करने वाले अपने हम ही वनेंगे, अतः हममें आज यह बात आ जानी चाहिए कि हम विषय कषाय आदिमें इच्छाए कम करके ज्ञानकी ओर झुकें। मानके लोभ में यदि आपकी अपनी सम्हाल न हुई तो वड़ी हानि है। मरण समाधि सहित हो जाये, यह सवका लक्ष्य होना चाहिये। जव मैं मरूं तव मेरेमें किसी प्रकारका विकल्प न उठे, मैं मरूं तो निर्विकल्प शान्ति पूर्वक मरूं यह भाव और काम मरते वक्त भी होना चाहिये पाण्डवोंने क्या-क्या नहीं किया, किन्तु उनके मरण समय इतने अच्छे परिणाम रहे कि तीनको मोक्ष मिला दो सर्वार्थसिद्धि गये अपना उत्तर जीवन सुधार लो पूर्व जीवन कैसे गुजरा, पूर्व जीवनमें कैसे रहे इनका विकल्प भी करना लाभदायक नहीं है। आत्माका स्वभाव मोक्ष है, वैसा यह जीव अपना उपयोग वनाता रहे, यही सवसे वड़ा सहायक है। आत्माका साथ देने वाला स्वयं आत्माका ज्ञान है, अतः ऐसा मत मानो कि रागद्वेष ही जीव है। किट्टकालिमासे जुदे सोनेकी तरह, रागद्वेष कर्म, नोकर्म आदिसे जुदा आत्मा ज्ञानियोंके उपयोगमें आता है।

**जव इस आत्माके उपयोगमें चैतन्य आत्मा हो, तभी अपनी शोभा है:—**

सब कुछ कर लिया, रागद्वेष आदिके करनेसे कुछ नहीं मिल जायेगा। परिवार कुटुम्वके वीचमें रहकर भौतिक चीजोंको वढ़ा लिया जाये, उनसे क्या होता है? आत्मा इतना ही मात्र तो है नहीं। आत्माकी शोभा तो

ज्ञान और शीलसे है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए चारों अनुयोग हैं, करणानुयोग तो इतना असीम है कि उसका ज्ञान प्राप्त करते करते जिन्दगी समाप्त हो जाती है। द्रव्यानुयोगके ज्ञानका तो ऊंचा मर्म है। इनका परिचय होने पर तो आत्मा सर्वस्वसार प्राप्त कर लेता है। जितना भी ज्ञान करते जाओ-आनन्दही बढ़ता जायेगा। ज्ञानके सिवाय शान्ति कहीं नहीं है। राग-द्वेषसे-न्यारा ज्ञानी जीवने अपने आत्माका अनुभव किया है। ऐसा अनुभव होने पर थोड़ीही दृष्टिमें पूरा का पूरा आत्मा समा जाता है। जिसने बम्बई देखी है, उसके सामने बम्बईकी बातकी जाये तो उसके सामने सारे बम्बईका नक्शा खिच जाता है।

हमने इस आत्माके अतिरिक्त बहुतसे आनन्द लिए, परन्तु एक बार सब कुछ भूलकर केवल आत्मीयतत्त्वका अनुभव करो तो जीवनका उद्धार हो जाए। यदि लक्ष्य नहीं बनाया तो जैसे नावपर तैर रहे हो, कभी इस तरफ आओगे, कभी उधर जाओगे, लक्ष्य बन जानेपर लक्ष्यपर पहुंच ही जाओगे। अपना लक्ष्य बन जाये, यही सबसे बड़ी चीज है।

आत्माका काम सब विकल्पोंको दूर करके अपनेको निर्विकल्प स्थितिमें अनुभव करता है—ऐसे आत्माके अनुभवसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो जाती है। यह भी मत सोचो कि हम निर्विकल्प समाधिमें आगए, कोई भी विकल्प नहीं आना चाहिए। मन वचनकाय तो जीवके निमित्तसे पैदा हुए हैं, धन तो जीवका कुछ है ही नहीं। हमें मरना है, यहाँ तो ठीक है, परन्तु इसके लिए यह करना, इसके लिए यह करना—ये सब व्यर्थके झंझट हैं। अतः अपना यह लक्ष्य बने कि हमें अपनेको ज्ञानमय अनुभव करना है। इसके लिए एक दो घण्टा प्रतिदिन अध्ययन मनन करो तो लाभ होगा। अपने भीतरी भाव उठने से जो समय लगाओ, वह बहुत लाभदायक है। समय ऐसा होना चाहिए कि कुछ मुमुक्षु मिलकर आत्माके विषयमें जो चर्चा करें। धर्मकी जो दिलचस्पी है तो आत्माका उद्धार हो ही जाएगा। अन्यथा मोहियोंकी गोष्ठीमें आकुलताका उपहार मिलता रहेगा।

अभी अभी तो प्रकरण निकला था। मोही लोग कैसी कैसी कल्पना कर भटक रहे थे।

अनेकों बातें मोहियोंकी निकली और अन्तमें तो कुछ मोहियोंने यह बताया। क्या ?

कोई मोही कह रहा था कि कर्मोंका अनुभवन जोकि तीव्र साता, तीव्र असाता, मन्द साता-मन्द असाताके उदय रूप कर्मोंका अनुभव होता था, वही जीव है आचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं है। सुख दुःखके अलावा भी कोई जीव है, ऐसा ज्ञानियोंने समझा है। इसपर कुछ मोहियोंने यह कहा कि जैसे दही और बूरा मिल जानेपर तीसरी अवस्था होती है, उसे श्रीखण्ड कहते हैं। इसी प्रकार जीव और कर्मका मिश्रण ही जीव है ऐसा हम जानते हैं।

उत्तर—कर्मोंसे भिन्न कोई जीव है, ऐसा ज्ञानियोंने समझा है। भौतिक पदार्थोंमें जैसे साइन्स काम करती है। अग्निका निमित्त पाया और पानी गर्म होगया। अग्निका निमित्त हटनेपर पानी ठण्डा होजाता है। पर ये दृष्टि देनेसे विह्वलताएं उत्पन्न होती हैं। आत्माकी ओर दृष्टि देनेसे निराकुलता प्राप्त होती है। कर्मसे भिन्न आत्माको ज्ञानियोंने पहिचाना है।

कोई लोग मानते कि जैसे आठ काठसे न्यारी कोई खाट नहीं है, उसी प्रकार आठ कर्मसे न्यारा कोई जीव नहीं है। क्योंकि कर्मसे भिन्न आत्मा ज्ञानियोंकी समझमें आया है। आठ काठकी खाट अवश्य होती है, किन्तु उस पर सोनेवाला तो उससे न्यारा है। उसी प्रकार कर्मोंके ढेर कार्माण शरीरसे न्यारा जीव है, ऐसा ज्ञानियोंकी समझमें आया है।

इस प्रकार नाना प्रकारकी दृष्टिवाले मोही जीव आत्माके बारेमें विवाद कर रहे हैं कि पुद्गलसे न्यारा कोई जीव नहीं है तो कहते हैं कि उन्हें शांतिसे इस प्रकार समझा देना चाहिए। शेषसे कहनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। शेषसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती है।

**व्यर्थका शोर खतम करके आत्मामें सत्य आराम पावो:—**

आचार्य महाराज मोहियोंसे कहते हैं कि हे भाई! जरा आराम लो, तुम

बहुत थक गए होंगे। वस्तु स्वरूपके विरुद्ध विचारोंमें थकान आ ही जाती है। व्यर्थके कोलाहलसे कोई लाभ नहीं है। तुम स्वयं ही अपने अन्दर स्वतन्त्र होकर देखो उस एक आत्माको। अपने हृदय सरोवरमें छः माह उसे देखो तो सही, फिर तुम्हें आत्मा मिलता है या नहीं? वह आत्मा पुद्गलसे न्यारा है। ऐसा आत्मा अपने अन्दर देखनेसे अवश्य प्राप्त होगा। अनन्तानुबन्धी कषाय छः माहसे ऊपर भी चलती है। यदि छः माह विशुद्ध उपयोग रहे तो अनन्तानुबन्धी समाप्त हो जाय? मान लिया किसीकी आयु ६० वर्षकी है। साठ वर्षमें प्रायः ३ घण्टे रोज धर्म ध्यानमें लग जाते हैं। इस प्रकार ६० वर्षमें ७॥ वर्ष तुम्हारे धर्म ध्यानमें निकले। उस साढ़े सात वर्षमें बजाय, प्रतिदिन तीन घण्टेके २ घण्टा धर्मध्यान कर लो और कभी निरन्तर तुम छः माह ऐसे व्यतीत करो कि जहाँ वातावरण अच्छा हो और उद्देश्य आत्म सिद्धिका हो तो अधिक लाभ है। मोहको छोड़कर छः माह ही तो धर्मध्यान करो इष्ट सिद्धि होती है या नहीं यह तुम स्वयं जान जाओगे, व्यर्थके कोलाहलसे क्या फायदा है, तुम अपने आपमें छः महीने करके यह कठिन परिश्रम करके देखो तो सही! किसी भी धर्मका हो, अपने कुल धर्मका पक्ष भी भुलाकर मानों मान लिया कि तुम इस कुलमें उत्पन्न ही नहीं हुए हो ऐसा समझकरके सर्व आग्रह छोड़ आत्मा में व्यवस्थित रहो। फिर इतना जानो कि मैं क्या हूँ। अन्य सबके सहारे छोड़कर खुद समझो कि मैं आत्मा क्या हूँ, आपको इस प्रकार एक दिन सत्य मिल ही जावेगा। आत्मा स्वयं प्रभु है। स्वयं भीतरसे निर्णय उठता आयेगा कि हम क्या है?

मैं कौन हूँ, यह मैं अपने आप समझूंगा यह सत्याग्रह करके अपनेको देखो। इस प्रकार वह आत्मा अपने आप नजर आजायेगा। इस शैलीसे जो समझमें आयेगा। वही जैन शास्त्रोंमें पहलेसे ही वर्णित है। परन्तु जैन शास्त्रों में लिखा है, इस पराधीनताको भी छोड़ो। फिर देखना तुम्हें आत्माकी उपलब्धि होती है या नहीं? हम जैन हैं, इसलिए हम जिन मन्दिरमें दर्शन करने जाते हैं, इससे तुम्हें क्या मिलेगा। मूल दुख मिटानेका उपाय अनुभव करना, यह उद्देश्य तो किन्हीं अंशोंमें ठीक है। हम मलिन हैं, संसारी हैं।

-कर्मसे ढके हैं, इसका उपाय समझना है, अतः एवं हम मन्दिरमें जाते हैं, ऐसा समझनेसे तो कल्याण है। तत्त्व निकलता है, किसी निश्चत उद्देश्यसे। इस प्रकार बड़ी शान्तिसे आचार्य महाराजने उन मोहियोंको समझाया। यदि समझानेपर कोई नहीं माने तो लो ऐसा उपाय करो कि न तुम अपनेको हिन्दू मानो और न हम अपनेको जैन समझें, ऐसा निष्पक्ष हो करके आत्मध्यानमें बैठ जाओ तो देखो छः माहमें ही सिद्धि होती है या नहीं? और यह जानोगे कि दुखसे छूटनेका उपाय क्या हैं? छः माह इस प्रकार करके देखो तो जान जाओगे कि आत्मा क्या है? जिन्हें आत्मा व अनात्माका परिचय नहीं है ऐसे पर्यायमुग्ध पुरुषोंने जिस जिस चीजको आत्मा मान डाला है। उनके बारेमें जरा ध्यान तो दो वे क्या हैं? वे सारे भाव पुद्गलद्रव्यके परिणाममें विष्पन्न है अर्थात् पुद्गलद्रव्यके परिणाममय हैं और ऐसा ही विश्वसाक्षी अर्हन्त देवोंके द्वारा प्रज्ञप्त है, उनकी दिव्य ध्वनिमें भी बड़े-बड़े महर्षियों, ज्ञानियों तक ने ऐसा ही जाना है।

परिणाममयके दो अर्थ होते हैं—(१) परिणामस्वरूप (फलस्वरूप) (२) परिणमनरूप! जैसे शुभ भाव अशुभभाव, सुखानुभाव, दुःखानुभाव, राग, द्वेष, मोह आदि भाव ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप हैं अर्थात् पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त मिला तो उसका परिणाम जीवमें यही निकला कि जीवमें वे विभाव व्यक्त हुए? इस प्रकार परिणाममयका अर्थ नैमित्तिकभाव हैं यह निकला। परिणमनरूपका अर्थ तो प्रकट ही है कि शरीर, कर्म आदि पुद्गल के ही परिणमन हैं।

फिर तो अध्यवसनादिक समस्त भाव चैतन्य शून्य पुद्गलद्रव्यसे विलक्षण चैतन्यस्वभावमय जीव द्रव्य रूप होनेका उत्साह भी नहीं करते अर्थात् उनमें जीवत्त्वकी संभावनाकी तो बात भी नहीं चल सकती। अरे यह बतंगड़ा मोहियोंने कैसा बना दिया। देखो तो मोहियोंका ऊधम, भगवानसे भी बढ़कर जानकर बनना चाहते हैं। भगवानके तो कल्पना भी नहीं उठती ज्ञानमें भी नहीं है कि ये पर द्रव्य जीव हैं। भगवान तो समस्त विश्वके शाक्षी हैं, ज्ञाता

द्रष्टा हैं, जिसका जो स्वरूप है उसी रूपसे उसके ज्ञाता हैं। किन्तु, इस मोही को बहुत सी विकलायें याद हैं।

हे आत्मन् ! व्यर्थका कोलाहल छोड़ दो, व्यर्थकी कलकल करना छोड़ दो। कल मायने शरीर है, जो शरीर शरीर ही वर्राता है वही तो कलकल करना है। आप स्वयं ज्ञानमय है तो आप क्या अपनेको नहीं जान सकोगे। अपना जानना तो अति सरल है, किन्तु आत्मा को जाननेके लिए तैयार हो जो सभी तो सरल है। जो आत्माको जाननेके लिए तैयार होता है वह परमें उपयोग लगानेका रंच भी उत्साह नहीं रखता। परकी रुचि हटे तो आत्माके ज्ञानमें फिर देर क्या है। यह आत्मा तो सनातन ज्ञानस्वभाव ही है। अहो जिसके ज्ञानोपयोगकी ज्ञानस्वभावमें एकता हो जाती है वह आत्मा धन्य है। ऐसी स्थिति पानेके लिए वस्तु स्वरूपका यथार्थ दर्शन करो। मोहके रंग विवेकज्योतिके आगे टिक सकते नहीं हैं।

मोही अज्ञानी राग-द्वेष, शरीर व कर्मोंको ही जीव मान रहा था, परन्तु पुद्गल कर्मके परिणमन और पुद्गल कर्मके निमित्त होनेवाला वह सब जीव नहीं है। मोटे रूपसे देहाती भी जानते हैं कि वेदना होनेपर जिसे तुम पुकारते हो, वह परमात्मा है और जिसमें वेदना हो रही है, वह आत्मा है।

ये मोही जीव इस आत्माके विषयमें कई प्रकारसे विवाद कर रहे थे। कोई रागादि भावोंको आत्मा कहता था, कोई कहता इन आठ कर्मोंसे भिन्न कोई जीव नहीं है, कोई मानता कि यह पौद्गलिक शरीर ही जीव है। ऐसे नाना प्रकारकी मान्यता वाले इस मोही जीवको, जो पुद्गल से न्यारा जीव नहीं मानता, उसे शान्तिसे इस प्रकार समझा देना चाहिए। हे आत्मन् ! जिन्हें तू आत्मा मानता, वे या तो पुद्गलके विकार हैं, या पुद्गलके निमित्तसे पैदा हुए हैं।

अब आचार्य मोहियोंके प्रति कहते हैं कि व्यर्थमें चिल्लानेसे क्या फायदा ? तुम अपने आपमें स्वतन्त्र होकर उस आत्माको एक बार देखो तो सही। अपने ही अन्दर छः मास तो देखो, जीव मिलता है या नहीं ? प्रत्येक आत्मा जिस वातावरणमें पैदा हुआ है उसीको जीव मान लेता है। यदि यह आत्मा एक

वार भी अपना भरोसा करके चाहे किसी भी धर्मको न मानकर अर्थात् धर्मोंको भुलाकर कि मैं जैन हूँ, बौद्ध हूँ—इसे भुलाकर इस आत्माका ध्यान करे, स्वयं समझे कि मैं क्या हूँ, तो वास्तविक तथ्यकी प्राप्ति हो सकती है। मजहवोंको भुलाकर सब विकल्पोंको छोड़कर फिर बुद्धिसे निर्णय करे। वहां सब विकल्प शान्त होते और निर्विकल्प परिणमन होता है। यही सम्यग्दर्शनका कारण है। हम अमुक धर्ममें पैदा हुए अतः हमें यही धर्म चलाना है, यही ठीक है, अन्य सब मिथ्या है—ऐसी मान्यतासे वास्तविक सत्यकी अनुभूति नहीं हो सकती।

### निज आत्म तत्वको समझे विना धर्म हो ही नहीं सकता:—

समस्त धर्मोंको गौण करके, मैं क्या चीज हूं, इसका एक वार अपने आपमें निर्णय कर लेना चाहिए। ऐसी दृढ़ प्रतीति वनाओ कि मैं स्वयमेव अनुभव करूंगा कि मैं कौन हूँ। हम कैसे जाने कि परम्परा का चलाया हुआ धर्म सत्य है अथवा नहीं है। सब विकल्पोंको दूर करो। विकल्पोंको छोड़कर सब पक्षोंको भुलाकर स्वतन्त्र रूपसे यह निर्णय करो कि क्या हम अपनेको अपने आपमें नहीं जान सकते ? जान सकते हैं, अवश्य, परन्तु उसके जाननेका उपाय यह है कि अपनेमें यह लगन लगा लो कि मैं आत्मा क्या हूँ ? इस अपने आत्मा को समझे विना धर्म हो ही नहीं सकता। अतः धर्म सेवन इच्छा करने वाला जीव सब मजहवोंको भुलाकर अपने आत्माको एक वार जाने। आत्माके जानने के पश्चात् अपने आप स्पष्ट हो जाएगा कि मैं आत्मा क्या हूँ ?

जरा ठहरो, विराम लो। हे मोहियों जिस-जिस चीजको तुम आत्मा मानते आये हो, उन भ्रमोंको छोड़ो। जिन-जिन चीजोंमें तुम आत्माका भ्रम करते हो, विवाद करते हो, उनमें आत्माका लक्षण नहीं है। लक्षण वह होता है। जो अनादिसे लेकर अनन्त काल तक साथ वना रहे। परन्तु आत्मामें सदा राग नहीं वना रहता है। राग क्षीण कषायोंमें नहीं पाया जाता है, अतः राग आत्माका लक्षण नहीं हो सकता है। सिद्ध आत्मामें राग विल्कुल भी नहीं पाया जाता। हाँ यदि सभी आत्माओंमें राग पाया जाता तो रागको हम आत्मा

का लक्षण मान सकते हैं। परन्तु राग प्रारम्भसे अन्त तक जीवके साथ नहीं रहता है अतः राग आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है ?

जो चीज परके निमित्तसे होती है और घटती बढ़ती रहे, उसका सर्वथा कहीं न कहीं नाश अवश्य हो जाता है। राग किसी जीवमें अधिक देखा जा सकता है—किसी जीवमें उससे कम पाया जाता है किसी जीवमें उससे भी कम रागकी मात्रा होती है तो फिर राग सदा बना रहे, वह भी नहीं हो सकता है। राग पर वस्तु को निमित्त पाकर के होना है, और घटता बढ़ता रहता है अतएव राग मूलतः नष्ट भी हो जाता है। अतः कोई आत्मा ऐसा अवश्य है, जिसमें रागका लेश भी नहीं है। राग किसी न किसी तरह नष्ट हो जाता है, अतः राग आत्माका लक्षण नहीं हो सकता है ?

शरीर भी जीवका लक्षण नहीं है, क्योंकि शरीरको हम लोग नष्ट होता देखते है। अपना शरीर भी किसी न किसी दिन नष्ट हो जाएगा, फिर शरीर आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है ?

अमूर्तपना भी जीवका लक्षण नहीं है। अमूर्त कहते हैं, जिसमें रूप, रस गन्ध, स्पर्श न पाया जाये। अमूर्त तो धर्म, अधर्म आकाश और काल द्रव्य भी है। यदि अमूर्तपना जीवका लक्षण होता है धर्मादि भी जीव कहलाने लग जायेंगे। यद्यपि जीवमें रूप नहीं है, रस नहीं, स्पर्श नही, गन्ध नहीं, शब्द नहीं, तो भी अमूर्तपना होनेसे जीवका लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि अमूर्तत्त्व लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें पाया जाता है। अतः उसमें अति-व्याप्ति दोपका प्रसंग आता।

इस प्रकार राग, मोह, शरीर व अमूर्तत्त्व जीवका लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण है ज्ञान, चेतना। चेतनाके विना कोई भी जीव नहीं पाया जाता है। अतः चेतनाको जीवका लक्षण मानना चाहिए।

प्रश्न—रागादिक भाव आत्मामें ही होते हैं, फिर उस रागको पुद्गलका स्वभाव क्यों कहते हो ? रागादिकभाव भी आत्माके स्वभाव माने जाने चाहिए। उत्तरः—

## * गाथा *

**अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।**
**जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥**

आठों ही प्रकारका जो कर्म है वह सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेन्द्र देव जानते हैं। उस विपच्चमान पुद्गलकर्मका जो फल है वह दुःख ही है ऐसा आत्मामें कहा गया है।

आठ प्रकारका जो कर्म है, वह पुद्गलमय है। यद्यपि कर्म दिखाई नहीं देता है, परन्तु आत्मामें जो खराबियाँ उत्पन्न होती हैं वे आत्मामें उत्पन्न हुई हैं, यह अवश्य समझमें आता है। जब रागादिकभाव होते हैं वे अनुभवमें आते हैं। अतः स्पष्ट है कि कोई पर पदार्थ आत्मामें रागादि उत्पन्न करनेमें निमित्त कारण स्वरूप हैं। जिसके सम्बन्धसे राग होता है। वह निमित्त आत्माके स्वभावसे उल्टा होना चाहिए। जैसा चैतन्य स्वरूप मैं हूँ, वैसा चैतन्य स्वरूप पदार्थ राग उत्पन्न होनेका कारण नहीं हो सकता है। कर्म पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, अतः वह रागके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण है।

दुःख कर्मका फल है। दुख कर्मका फल है, अतः दुःख कर्मका अविनाभावी है, दुख आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे किसीका लड़का जुआरी है, उसकी मां कहती है कि यह तो अमुक लड़केकी आदत लग गई याने अमुकके लड़केने हमारे लड़केको यह आदत सिखा दी है। इसका भाव यह है कि परके लड़के को निमित्त पाकर यह लड़का जुआरी बना है। उसी प्रकार आत्मामें जो दुख उत्पन्न हुआ है, वह कर्मका फल है। कर्मका बंधन हो तो फल अच्छा मिलेगा। अब इस मनुष्यभवको पाकर अपने जीवनको सुधारनेका मौका मिला है अतः आत्माको दुःखसे निवृत्त करनेका उपाय करना चाहिए। व्यर्थके कषाय भावोंमें अहङ्कार ममकारोंमें समय नहीं बिताना चाहिए। तेरे में ऐसी कौनसी चीज है—जिसका तू घमण्ड करता है?

जिस कर्मके उदयमें आनेपर जिसकर्मका जो फल मिलता है, वह दुःख ही है। आत्मामें परिणति होती है, परन्तु आत्माका स्वभाव नहीं है। रागादि-

पुद्गलके निमित्तके कारण होते हैं। कर्मके उदयसे उत्पन्न इन रागादिकको उत्पन्न करनेवाला निमित्त पुद्गल ही है। पौद्गलिक, शब्दके दो अर्थ हैं:—
१–जो पुद्गलके निमित्तसे हुआ हो, और, २–पुद्गलकी ही परिणति हो। रागादि चैतन्यके परिणमन हैं, परन्तु कर्मके निमित्तसे राग द्वेप, मोह उत्पन्न होते हैं। रागादिको न पुद्गलके ही कह सकते और न आत्मा के। रागादि कर्मको निमत्ति पाकर आत्मा की विभाव पर्याय मानी जाती है। रागादिनिमित्त रूपसे पौद्गलिक हैं, उपादान रूपसे नहीं है।

आकुलता नाम दुःखका है। जीवके दुःखादिक में पुद्गल द्रव्य निमित्त पड़ता है। जैसे दर्पण है। दर्पण लाल चीजका निमित्त पाकर लाल होगया। तो दर्पणकी लालिमा दर्पणके निमित्तसे तो नहीं बन गई। यदि रागादिका निमित्त आत्मा है तो रागादि आत्मासे क ी नहीं छूटने चाहिए। परन्तु देखा जाता है कि रागादिका आत्मासे सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः रागादि कर्मके निमित्तसे ही हैं। रागादि पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्माके स्वभावके विकारका नाम है। रागादि आत्माम होते हैं, यह कष्ट हैं, आत्माकी विपत्ति है। रागादि को नष्ट करके संसारसे छूट सकते हैं। अपना ध्यान, अपनी चिन्ता विशेष है। चैतन्यमें रागादि होते हैं, फिर भी रागादिको चैतन्य का स्वभाव न मानो, किन्तु पुद्गल का स्वभाव मानो।

**देह देवालय में निज सन्ततन देवको देखो:—**

आत्माके सम्बन्धमें मोही जीवकी नाना प्रकार की कल्पनाएं हुई। किन्हीं ने रागकी सन्तानको आत्मा कहा, किसीने सुख-दुखको आत्मा जाना, किसीने शुभ-अशुभ भावमें जीवकी कल्पना की, कोई अज्ञानी शरीरको हीं आत्मा मान बैठा, किन्हींने कर्मको आत्मा संज्ञा दी, कोई जीव और कर्मके मिश्रण को आत्मा मानता है, परन्तु ये सब पदार्थ आत्माएं नहीं हैं। आत्माका वह लक्षण है, जो आत्मामें त्रैकालिक निर्विकल्प पाया जाता है, वह है चैतन्य। चैतन्य स्वभाव आत्मा है, ऐसा ज्ञानियोंने अनुभव किया। उस चैतन्य स्वभाव आत्मा को कहाँ जाये, यह योगीन्द्रोंने कहा कि यद्यपि वह आत्मा देहमें बस रहा है, परन्तु

देहको छूता तक नहीं है। देह अपना देवालय है, जिसमें वह कारण परमात्मा अभी निवास करता है। यह देह देवालय है, क्योंकि इसमें वह देव बसता है, जिसे स्वभाव दृष्टिसे देखा जाये तो वही परमात्मा नजर आता है। स्वभाव दृष्टिसे देखा गया वह चित्स्वभाव आत्मा कारण परमात्मा है। वह कारण परमात्मा देहमें बसता हुआ भी देहको न छूता है और न वह देहसे अलग है याने देहसे जुदे बाहरके आकाशमें। जो समताभावमें स्थित हैं, ऐसे योगियों को परमात्मा दिखाई पड़ता है। परमात्माके अवलोकनका बाधक अहङ्कार और ममकार है। अहङ्कार और ममकारका अभाव हो तो परमात्मतत्त्व अनुभवमें आता है। एक गाँवमें एक नकटा रहता था, उसे लोग नकटा ही कहा करते थे। एक दिन उस नकटे ने कहा कि इस नाक की नोकके ओटमें परमात्मा नहीं दिखाई देता है, जब इस नोक को काट दिया जाता है, तो साक्षात् परमात्माके दर्शन हो जाते हैं। जो उसको चिढ़ा रहा था, उसने कहा यदि ऐसी बात है तो मेरी भी नाक की नोक काट दो। नकटे ने दूसरे आदमीको भी छूरी लेकर नकटा कर डाला। फिर पूछा कि अब तुझे परमात्मा दिखाई देता है ? उस नये नकटेने कहा कि नहीं। फिर पूर्व नकटेने उसे उल्टी पट्टी पढ़ाई कि अरे, तू तो न कटा होने के साथ पागल भी हो गया है और कहा कि अब यदि तेरेसे कोई नकटा कहे तो तू उसे समझा दिया कर कि इस नाक की नोक की ओटमें परमात्मा दिखाई देनेमें बाधा पड़ती है। इस प्रकार लोग नये नकटेको नकटा कहने लगे। जो उसे नकटा कहते उससे वह कह देता भैय्या, इस नाककी नोककी ओटमें परमात्मा दिखाई पड़नेमें बाधा पड़ती है, परमात्मा दिख जानेकी तृष्णासे लोग नाकें कटाने लगे। इस प्रकार उस नगरमें सभी नकटे हो गये। एक दिन राज गृहमें मीटिंग होनी थी, सभी लोग पहुंचे। सबको नकटे (नाक कटे) देखकर राजाको अपनी नाककी चोंच भद्दी मालूम पड़ने लगी। उसने पूछा कि भाइयों, आप लोगोंकी नाकें तो बहुत सुन्दर हैं, मेरी नाक की चोंच बहुत भद्दी मालूम पड़ती है। सब लोग बोले कि राजन्, इस नाककी नोकके हटने पर परमात्माके दर्शन होते हैं, तो राजा ने कहा तो फिर मेरी भी नाक काट दो। मूल न कटा (जो सबसे पहले नकटा

था) बोला कि राजन् मैं आपसे एकान्तमें कुछ पूछना चाहता हूँ। एकान्तमें कहा आप इन झूठोंके फेरमें मत पड़ों, ये सब झूठ बोलते हैं, मैं भी झूठ बोलता हूं। उसने सारी वास्तविक बात राजासे कह दी।

नाक माने वास्तवमें मान है। अर्थात् नाकके (मान के) कट-जाने पर-नष्ट होने पर परमात्मा के दर्शनहो जाते हैं। परमात्माके दर्शनमें बाधक अहंवृत्ति ही है। मैं विद्वान हूँ, मैं श्री मान हूं, मैं त्यागी हूं, मैं मुनी हूं इस तरह की आत्म बुद्धि को मान कहते हैं। देहको अलग माने विना आत्म बुद्धि कर ही नहीं सकते। शरीर ही आत्मा है, ऐसा जिसके दिमागमें जम जाये, वही शरीरको धनी, पण्डित कहा करता है। पर जिसमें यह आत्मा बुद्धि खतम हो जाये और समता भाव जगे तो साक्षात् परमात्माके दर्शन हो जाते हैं।

**परम पारिणामिक निज कारण समयसारकी उपासना करो।**

परमात्मा दो प्रकार से हैं:—(१) कारण परमात्मा और (२) कार्य-परमात्मा अरहन्त-सिद्ध हैं। कार्य परमात्मा किस बात विशेपके होनेसे बन गये? अरहन्त सिद्धमें कोई नई बात आकरके जम नहीं गई। उनकें चैतन्व स्वभाव का विकास हो गया है। वह चैतन्य स्वभाव जिसका पूर्णतः विकास कार्य परमात्मा कहलाता है, वह कारण परमात्मा कहलाता है। चैतन्य स्वभाव ही कारण परमात्मा है। चैतन्य स्वभाव जिसके न हो, ऐसा कोई जीव नहीं है। समस्त जीव कारण परमात्मा हैं। कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो कारण परमात्मा न हो। वह चैतन्य स्वभाव जिसे कारण परमात्मा कहते हैं, वह सब आत्माओंमें हैं। वह स्वभाव सब जीवों में हैं, परन्तु अभी अनेकोंके प्रच्छन्न हैं। अत्यन्त प्रच्छन्न नहीं है, फिर भी बहुत कुछ अंशोंमें प्रच्छन्न है। जो चैतन्य स्वभाव थोड़ा प्रकट होते होते जब पूर्ण प्रकट हो जाये वहीं कार्य परमात्मा है। कारण परमात्मा विशुद्ध परिणतिका नाम नहीं है, परन्तु विशुद्ध परिणतिका नाम कार्य परमात्मा है, उसका जो उपादान स्वभाव है वह कारण परमात्मा है स्वभाव दृष्टिसे प्रत्येक जीव कारण परमात्मा है अभव्य भी कारण परमात्मा है। अभव्यके केवल ज्ञानावरण होता है। यदि अभव्यके केवलज्ञानकी योग्यता न हो तो केवल ज्ञानावरण नहीं हो

सकता है। अभव्य माने जिसके केवल ज्ञान न हो सके। कारण परमात्मा निश्चल है, अभेद्य है।

कारण परमात्मा, कारण समयसार पारिणामिकभाव, जीवत्व—ये सब कारण परमात्माके पर्यायवाची शब्द हैं। कारण परमात्मा उस स्वभाव को कहते हैं कि जिसके अवलम्बनसे कार्य परमात्मा बनते हैं। पूर्ण कार्य परमात्मा अरहन्त सिद्ध हैं। कार्य परमात्मा जिस स्वभावके अवलम्बनसे बनते हैं, वह है कारण परमात्मा।

द्रव्यदृष्टिसे भव्य और अभव्य दोनों समान हैं। शुद्धताकी दृष्टिसे उनके भेद कर लिए गये हैं। अनन्त गुणोंकी अपेक्षासे सभी जीव समान हैं। द्रव्यों की जाति बनानेकी यह पद्धति है कि तुम ऐसी बात बनाओ कि जो बात सबमें समान रूपसे घट सके। जीव द्रव्यकी दृष्टिसे भव्य-अभव्य सभी समान हैं। अनन्त गुण भव्यमें हैं और वैसे ही अनन्त गुण अभव्यमें भी हैं। गुण विकास को प्राप्त हो तब भी उसका नाम गुण ही है और गुण विकासको न प्राप्त हो, तबभी उसको गुण ही कहते हैं। यदि किसी द्रव्यमें एकभी गुण कम या अधिक होता तो भी सात द्रव्य माने जाते? पारिणामिक भाव ४ हैं।

१ शुद्ध जीवत्त्व, २ दश प्राणरूप जीवत्त्व, ३ भव्यत्त्व, ४ अभव्यत्त्व। इनमें से शुद्ध जीवत्त्व परमपारिणामिक भाव है और शेषके ३ अशुद्धपारिणामिकभाव हैं। शुद्ध पारिणामिक भाव कारण परमात्मा है।

कारण परमात्मा चैतन्य स्वभाव को कहते हैं कार्य परमात्मा बननेकी योग्यता हो या न हो, सभी जीव कारण परमात्मा बनते रहते हैं, क्योंकि उनके प्रति समय केवल ज्ञानका विशुद्ध परिणमन होता रहता है। अतः जिसको निमित्त पाकर ज्ञानमें परिणति होती है उसे कारण परमात्मा कहते हैं। यह देह देवालय है। परपदार्थके अवलम्बनसे धर्मभाव उत्पन्न नहीं होता है। पर पदार्थके आश्रयसे या तो पुण्य भाव होता है, या पाप भाव होता है। धर्म भाव तो स्वकी दृष्टि बनानेसे होता है। कार्य परमात्मा अरहन्त भगवान् की भक्ति करते—यदि निज स्वभावका अवलम्बन हो जाए तो धर्म भाव होता है। यदि

निज चित्स्वभावका अवलम्बन न हो तो भगवान्‌की भक्तिसे पुण्य भाव प्रकट होता है। कोई गरीब रोगी या असहाय धर्म नहीं कर सकता यह बात नहीं है। वास्तवमें चैतन्य स्वभावके अवलम्बनको धर्म कहते हैं। कारण परमात्मा चैतन्य स्वभावके अवलम्बनका नाम नहीं है। किन्तु चैतन्य स्वभावका नाम है। चैतन्य स्वभावका अवलम्बन पर्याय है जैसे यह अंगुली है। सीधी, गोल, टेढ़ी आदि अवस्थाओंसे युक्त यह अंगुली है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें रहने वाली अंगुली एक है। वह एक अंगुली अंगुली सामान्य कहलाती है। अंगुली सामान्य आँखोंसे नजर नहीं आती है। सब टेढ़ी, सीधी, गोल आदि सब अवस्थाओंमें रहनेवाली कोई एक अंगुली सामान्य है। इसी तरह आत्माकी नाना पर्यायोंको करनेवाली कारण परमात्मा है। वह एक, जो सभी पर्यायों रूप परिणत हुआ, उस एक आत्मद्रव्यको स्वभाव दृष्टि बनाये तो जान सकते हैं। स्वभाव दृष्टिसे देखा गया आत्मा कारण परमात्मा है। उस कारण परमात्माके अवलम्बनसे धर्म होता है।

स्वभाव है, कारण परमात्मा, उसकी दृष्टि हो तो मोक्षमार्ग चलता है, और धर्म बनता है। यह नियम नहीं कि कारण परमात्मा कार्य परमात्मा बन कर ही रहे। अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्माका नाम कारण परमात्मा नहीं है, किन्तु कारण परमात्मा की ये तीन (अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा) पर्याय हैं। पारिणामिक भावका नाम कारण परमात्मा है। कारण परमात्माकी दृष्टि होवे तो कार्य परमात्मा बन सकते हैं। वह कारण परमात्मा प्रत्येक जीवमें मौजूद है। जो उसको जान ले या अनुभव करले, वह कार्य परमात्मा बन सकता है। उस स्वभावकी दृष्टिसे धर्म प्रकट होता है। वह कारण परमात्मा सबमें बस रहा है। जैसे दूधमें घी सर्वत्र प्रत्येक अंगमें व्याप्त है। दूधमें घी कारण घी है। दूध कहो और उसे कारण घी भी कह सकते हो। कारण परमात्माके दर्शन होनेपर मिथ्यात्व खतम हो जाता है।

**पदार्थोंको स्वतन्त्र स्वतन्त्र अस्तित्व में देखो:—**

प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशमें, अपने गुणमें और अपनी-अपनी पर्यायमें स्थित

है, यह द्रव्यका स्वभाव है। प्रत्येक जीव अखण्ड सत् है। प्रत्येक पुद्गल द्रव्य अखण्ड है। अखण्डत्व द्रव्यका लक्षण है। जिसका खण्ड होवे, उसे पर्याय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना प्रदेश, गुण पर्याय रखता है। पुद्गलका एक-एक परमाणु अखण्ड है। जीव द्रव्य भी अखण्ड है। धर्म-अधर्म द्रव्य तथा आकाश काल द्रव्य अखण्ड हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंको मिलकर एक पर्याय बनी है उसे समान जातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं। जीव और शरीर मिल कर एक बने, उसे असमानजातीय द्रव्य पर्याप्त कहते हैं। जिन्हें अपने व्यवहार में जीव कहते हैं, वे सब असमानजातीय द्रव्य पर्याय हैं। जो अखण्ड हैं वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणोंमें, अपने-अपने प्रदेश और अपनी-अपनी पर्यायोंमें बसता है।

ये परमाणु भले ही मिले हों, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणुके प्रदेश, गुण, पर्यायमें नहीं जाता है। यह द्रव्य इतना ही अखण्ड है, इससे बाहर नहीं है, ऐसी प्रतीति द्रव्यके विषयमें आजाये तो मोह वनी जल जायेगा। सम्बन्ध दृष्टिसे पदार्थोंको निरखना यह सब मिथ्यात्व है। पदार्थोंको भिन्न-भिन्न देखे, उसे सम्यक्त्व का चिन्ह कहते हैं। योगियोंको परमात्मा महान् आनन्दको उत्पन्न करता हुआ इष्ट होता है।

दुःख सुखके लिये जीवको श्रम नहीं करना पड़ता। परन्तु मोही जीव दुःख सुखमें श्रम न समझकर आनन्दमें अत्यन्त श्रम समझता है। इस आत्मामें विकल्प न होनेसे समताभाव जागृत होता है। समताभावके जगनेसे परमानन्द प्रकट होता है। समस्त विकल्पोंकी आहुति देनेपर छोड़ देनेपर परमात्मत्त्व प्रकट होता है। पर पदार्थमें आत्मबुद्धिही परमात्माके दर्शनमें बाधक है। यह कारण परत्मा प्रत्येक प्राणीके देहमें बसा हुआ है।

हे योगी, कर्ममें निबद्ध होकर भी यह परमात्मा सकल (शरीर सहित) नहीं होता है। देहमें बसता हुआ भी यह आत्मा सकल नहीं है। ऐसे आत्माको कारण परमात्मा कहते हैं। जो कारण परमात्मा ज्ञानमयताकी दृष्टि से ध्याया जाता है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ध्यान बने और विकल्पन उठें—केवल यह

ज्ञान ही उसकी आत्मामें रह जाए तो उस कारण परमात्माके दर्शन होते हैं। योगी जन इस कारण परमात्माका निरन्तर ध्यान करते हैं। जिनके उपयोगमें यही चैतन्य स्वभाव रह गया उसे आत्माका आत्मामें लीन होना कहते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें उपयोग हो तो वह आत्मामें लीन होना नहीं है। भगवान्‌में उपयोग लगना कपाय, अशुभोपयोग रूप विपत्तियोंको दूर करनेके लिए है। भगवान्‌की भक्ति करनेसे आत्मा आत्मस्थ नहीं कहलाता है। किन्तु कारण परमात्माकी अभेद दृष्टिसे आत्मा आत्मरूप होता है। जो चैतन्य स्वभाव है। उसका पूर्ण विकास ही कार्य परमात्मा है। कारण परमात्माकी दृष्टि बने रहना यही कार्य परमात्मा को प्रकट करना है।

**औपाधिक विकार स्वाभाविक तत्त्व नहीं होता:—**

ये रागादिभाव होते हैं आत्मामें परन्तु कर्मोदयके निमित्तसे होते हैं, अतः ये रागादि आत्माका विकार है स्वभाव वह कहलाता है, जो बिना किसी परके निमित्तसे होता है और जो आत्माके साथ त्रिकाल बना रहता है। रागादिक भाव पुद्गलके निमित्तसे होते हैं, अतः इनको पुद्गलके स्वभावके कहा गया है। वस्तुतः रागादि किसीके स्वभाव नहीं हैं, न आत्माके स्वभाव हैं, और न पुद्गल के ही। वस्तुतः रागादि पुद्गलके परिणमन नहीं हैं अतः पुद्गलके स्वभाव नहीं हैं तथा रागादिक भाव आत्मामें त्रिकाल नहीं रहते अतः आत्माके स्वभाव भी नहीं हैं। तभी तो सांख्य लोग भ्रम करने मात्रको रागादि कहते हैं। कर्म को निमित्त पाकर ये रागादि आत्मामें होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। अतः *निमित्तकी अपेक्षासे देखो तो रागादि पुद्गलका स्वभाव है और उपादानकी* अपेक्षा देखो तो आत्माके स्वभावके विकारभाव हैं।

जैसे कोई खोटा कार्य करता है, उसे कोई कहता कि तुम्हारे कुलका यह काम नहीं है। जब उस व्यक्तिको गौरव होता कि जो कार्य मैंने किया, वह मेरे कुलके योग्य नहीं था, मुझे करना ही नहीं चाहिए था। इससे मेरे कुलमें लाञ्छन लगता है। इसी तरह आत्मा जिसका काम चैतन्यमात्र है, रागादि

बिल्कुल भी नहीं है। यदि वह राग-द्वेष मोह आदि अकृत्य कृत्य करे तो उसे ज्ञानी आचार्य समझाते कि अरे मूढ़ आत्मन् ! चेत रागादि करना तेरे योग्य कार्य नहीं है। तब आत्माको स्वयमेव गौरव होता कि मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा रहनेका है। रागादि करना मेरा स्वभाव नहीं है। अतः इन रागादिको मैं फिर क्यों करता ?

प्रश्न—जिज्ञासु पूछता है कि आचार्य देव फिर ये रागादि किसके स्वभाव हैं ?

उत्तर—ये रागादि पुद्गलके स्वभाव हैं। निमित्त दृष्टिसे रागादि पुद्गल के नत्थे मढ़े गये। जैसे दर्पण है। दर्पणके सामने कोई खिलौना रख दिया गया तो दर्पण खिलौनेको निमित्त पाकर खिलौनाके आकार रूप दर्पण अपनेमें प्रतिबिम्ब बनाता है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि दर्पण में उत्पन्न हुआ प्रतिबिम्बरूप दर्पण किसका स्वभाव है ? यह प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव तो नहीं है। क्योंकि खिलौनेका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पहले तो था नहीं। जब दर्पण के सामने खिलौना आया तो दर्पण खिलौनेरूप परिणम गया और जब खिलौना दर्पणके सामनेसे हटा दिया तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब भी हट जाता है, फिर प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव कैसे रहा ? यदि खिलौनेका प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव होता तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणमें त्रिकाल झलकना चाहिए था। यदि फोटो दर्पणका स्वभाव होता तो खिलौनेका प्रतिबिम्ब खिलौना सामने आनेसे पहले भी आना चाहिए था, और खिलौना हटनेपर भी खिलौनाका प्रतिबिम्ब दर्पणमें दिखाई देना चाहिए था।

जब खिलौनेका प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव नहीं है, तो खिलौनेका प्रतिबिम्ब खिलौनेका ही स्वभाव होना चाहिए ? नहीं, खिलौने का प्रतिबिम्ब खिलौनेका स्वभाव नहीं हो सकता। क्योंकि खिलौनेकी कोई चीज खिलौनेके बाहर दर्पणमें नहीं जा सकती है, खिलौनेकी चीज खिलौनेमें ही रहती है। यदि प्रतिबिम्ब खिलौनेका स्वभाव होता तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमें नहीं पड़ना

चाहिए था। जैसे अपने लोग व्यवहारमें कहते हैं कि यह किताब मेरी है, किन्तु यह किताब मेरी तो नहीं है, कागजकी है। उसी प्रकार यह प्रतिविम्ब दर्पण का स्वभाव नहीं है। यदि प्रतिविम्ब दर्पणका स्वभाव होता तो प्रतिविम्ब दर्पणके साथ त्रिकाल रहता। प्रतिविम्ब खिलौनेका स्वभाव भी नहीं है। यदि प्रतिविम्ब खिलौनेका स्वभाव होता तो खिलौनेसे बाहर नहीं जाना चाहिए था। अतः प्रतिविम्ब खिलोना और दर्पणका स्वभाव नहीं है। प्रतिविम्ब खिलौनेको निमित्त पाकर दर्पणके गुणोंका विकार रूप परिणमन है। खिलौने को निमित्त पाकर दर्पण विभाव रूप परिणम गया। क्रीडनक दर्पणभाव वह फोटो है। ये रागादि पुद्गल स्वभाव हैं। पुद्गल = कर्म, स्व = आत्मा और भाव = परिणमन। रागादि आत्माके स्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गलके स्वभाव हैं। कर्मको निमित्त पाकर आत्माके भाव हैं। उपादान दृष्टि हो तो आत्माके स्वभावसे रागादि हुए तथा निमित्त पर दृष्टि हो तो रागादि पुद्गलके स्वभाव हैं। वस्तुतः ये रागादि न पुद्गलके स्वभाव हैं और न आत्माके ही स्वभाव हैं। रागादि तो भ्रमकी अवस्था है। ये रागादि भाव पुद्गलके निमित्तसे होने वाले आत्माके परिणमन हैं। ऐसा जानकर रागादि भावोंको आत्मा मत समझो। जो भी तुम पर परिणमन चल रहे हैं, उन्हें तुम अपना मत समझो। पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले रागादिको पुद्गलके स्वभाव मत समझो। यदि यह प्रतीति होजाये कि रागादि मैं नहीं हूं तो रागादिसे तत्काल निवृत्ति हो जाए। जैसे कोई रास्तेपर दौड़ता जा रहा है। दौड़ते-दौड़ते उसे यह प्रतीति हो जाये कि जिस रास्तेपर मैं दौड़ रहा हूं, वह रास्ता गलत है तो उसे उस रास्तेपर दौड़ने से तत्काल निवृत्ति होजायेगी। यद्यपि वेगके कारण वह दस कदम आगे चल कर रुक सकेगा, परन्तु उसे तत्काल पहले कदमपर ही उस रास्तेपर दौड़नेसे अनिच्छा हो जायेगी तथा उसका उस ओर प्रयास भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार रागादि मैं नहीं हूं, यह प्रतीति आत्मामें जिस समय उत्पन्न हुई, उसी समयसे रागादिसे निवृत्ति हो जाती है। रागादि मैं नहीं हूं, यह प्रतीति होनेसे पहले मैं चैतन्य मात्र आत्मा हूं, यह प्रतीति होना चाहिए। चैतन्यमात्र मैं हूं, यह प्रतीति होनेपर रागादि मैं नहीं हूं, यह प्रतीति सच्ची है। चैतन्यमात्र आत्माको आत्मा

समझकर आत्माकी ओर दृष्टि होनाचाहिए ? कषायोंको मिटाना, यही कल्याण के लिए एक प्रयोजन है। सम्यक्श्रद्धासे कषाय मिटती हैं, अतएव आत्मतत्त्व के विषयमें दृष्टि लगानी चाहिए और सम्यक्त्वभाव जानना चाहिये।

अब यहाँ जिज्ञासु पूछता है कि राग-द्वेष मोहादिभाव पुद्गलके स्वभाव है तो इन्हें अनेक तंत्रोंमें अध्यवसानादिक जीव क्यों बताये गये हैं इसके समाधानमें श्रीमत्कुन्दकुन्द देव कहते हैं—

## * गाथा *

**ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।**
**जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥**

ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव हैं ऐसा यह सब व्यवहारका प्रदर्शन कराया है ऐसा जिनेन्द्रदेवोंके द्वारा वर्णित हुआ है। समयसारकी दृष्टि स्वभाव पर है। *न तो पुद्गलकी रचना जीव है और न पुद्गलके निमित्तसे होनेवाली* रचना जीव है। कारण समयसार सो जीव है। परमशुद्ध निश्चय दृष्टिमें जो पारिणामिक भाव जाना गया उसे जीव कहते हैं। एकेन्द्रिय, त्रस, रागद्वेप, मोह शरीरादि जीव नहीं है। केवल ज्ञान भी शुद्ध दृष्टिसे जीव नहीं है। क्यों कि केवल ज्ञान ज्ञानकी परिणति है। परिणति जीव है नहीं, अतः केवलज्ञान भी जीव नहीं हो सकता है। जीव अविनाशी है, केवलज्ञान प्रति समय नष्ट होता रहता है, और नया-नया पैदा होता रहता है। केवलज्ञानकी यह विशेषता है कि उसकी परिणति उसी प्रकारकी होती है, जिससे उसका प्रतिसमय बदलना मालूम नहीं पड़ता है।

शुद्धता दो प्रकारकी होती हैं— १-पर्याय की शुद्धता और २-द्रव्यकी शुद्धता पर्यायकी शुद्धता भगवान अरहन्त सिद्धमें है द्रव्यरूप शुद्धत्व द्रव्यमें सनातन है समयसार दो प्रकारसे है:—कारण रूप समयसार और कार्यरूप समयसार। कार्यरूप समयसार भगवान अरहन्त सिद्ध हैं। परसे भिन्न और अपनेसे अभिन्न को द्रव्य शुद्धि कहते हैं। द्रव्य शुद्धि जीवमें अनादि से अनन्त तक है। पर्याय शुद्धि जीवमें किसी क्षणसे होती है। जीव द्रव्य दृष्टिसे शुद्ध है।

पदार्थ अवक्तव्य हैं, जो कुछ है सो है। आत्माको यदि सर्वथा अशुद्ध ही मानें तो कभी शुद्ध नहीं हो सकता है। शुद्धकी दृष्टि करनेसे बनता है शुद्ध और अशुद्धकी दृष्टि करनेसे बनता है अशुद्ध—यह आध्यांत्म शास्त्रका प्रथम सिद्धान्त है। अब एक मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमें अशुद्ध है, राग-द्वेषको अपनाता है, अशुद्धका अवलम्बन किये हुए है। अब वह कौनसे शुद्धका अवलम्बन करे कि वह सम्यग्दृष्टि हो सके? तर्क—अरहंत सिद्धका अवलम्बन करे—

उत्तर—जीव परका अवलम्बन कर ही नहीं सकता। यह अध्यात्मशास्त्र का द्वितीय नियम है। जैसे आपने अरहन्त भगवानका स्मरण किया, तो यह आपने अरहन्त भगवानका अवलम्बन नहीं किया। परन्तु अरहन्त भगवान्के विषयमें तुम्हारे मनमें जो पर्याय उत्पन्न हुई है, उसका तुमने अवलम्बन किया है। वास्तवमें तुम दृश्यमान पदार्थोंको नहीं जान रहे हो। एक भी चीजको तुम नहीं जानते। किसी भी परमाणुको तुम नहीं जान सकते। निश्चयसे जानते हो उसे, जो तुम्हारे आत्मामें अर्थ विकल्प हो रहा है। वास्तवमें हमने क्या जाना है, इस अन्त की चीजको वतानेके लिए उसका नाम बताना पड़ता है कि हमने इस रूप परिणत आत्मा को जाना। वह ज्ञेयाकार इस तरहका इस अद्भुत चीजको वतानेके लिए कहा जाता है। जिस वस्तुका जो गुण होता है, उस गुणकापरिणमन उसी वस्तुमें होता है, अन्य वस्तुमें दूसरी वस्तुके गुणका परिणमन नहीं हो सकता है। जिस वस्तुका जो गुण है, उस वस्तुकी क्रिया उसी वस्तुमें होती है—यह एक साधारण नियम है।

भगवान् निश्चयसे अपनी ही आत्माको जानतेहैं। व्यवहारमें कहते हैं कि भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं, अतएव 'सर्वज्ञ' हैं। वास्तवमें उनका केवल ज्ञान आत्माको ही जानता है। उनकी आत्मामें सम्पूर्ण संसार झलकता है। भगवान् संसारके आकार रूप परिणत आत्माको ही जानते हैं, इस बात को समझनेके लिए कह दिया गया है कि भगवान् विश्वके ज्ञाता है।

जैसे एक दर्पण है। उसके सामने, अपने पीछे ५-७ लड़के खड़े हुए हैं जो दर्पणमें प्रतिबिम्बित हैं। हमारे पीछे खड़े हुए लड़के क्या कर रहे हैं, यह

हम दर्पणमें देखकर बता सकते हैं। परन्तु हम केवल दर्पणको ही देख रहे हैं। हम किस प्रकारके परिणत दर्पणको देख रहे हैं, यह बात हम लड़कोंकी क्रियाओं का निर्देशकर-बता रहे है। इसी प्रकार हम दृश्यमान पदार्थोको नहीं जान रहे हैं। निश्चयसे हम ज्ञानका जो ज्ञेयाकार परिणमन है, उसको जान रहे हैं। केवल ज्ञानकी ऐसी योग्यता है कि उसका ज्ञेयकार परिणमन विश्वरूप बना रहता है। परन्तु भगवान् विश्वको नहीं जानते हैं, विश्वरूप परिणत अपने आत्माको। निश्चयसे आत्मापर को नहीं जानता है, आत्मा आत्माको जानता है।

कोई-कोई केवल ज्ञानको जीव स्वीकार करता है, परन्तु केवल ज्ञान जीव नहीं है। केवलज्ञान ज्ञानका परिणमन है। अतः केवलज्ञान जीव नहीं हो सकता है। अब प्रकृत तत्त्वपर आइए, प्रकृत यह चीज है कि शुद्धका अवलम्बन करनेसे शुद्ध परिणमन होता है और अशुद्धका अवलम्बन करनेसे अशुद्ध परिणमन होता है। दूसरे कोई परका अवलम्वन कर ही नहीं सकता है। सदा जीव अपना ही अवलम्बन कर पाता है।

जब यह जीव अपना ही अवलम्बन करता है तो मलिन आत्मा किसका अवलम्बन करे कि वह शुद्ध बन जाए? राग-द्वेष आदिके अवलम्बनसे शुद्ध बन नहीं सकता है। करेगा अपना ही अवलम्बन, दूसरेका कर नहीं सकता है। मलिन आत्मामें भी ऐसा कौनसा तत्त्व है, जिससे आत्मा शुद्ध बन सके? अरहन्तका विचाररूप जो ध्यान है, वह भी अशुद्ध भाव है। जीव अरहन्तका अवलम्बन कर ही नहीं सकता है। अरहन्तका अवलम्बन रूप पर्याय अशुद्ध है। शुभ भाव और अशुभ भाव दोनों अशुद्ध भाव हैं। जब मलिन आत्माको चैतन्यस्वरूपकी खबर होती है—चैतन्यस्वभाव मलिन दशामें भी है—चैतन्य स्वभावका अवलम्बन किया तो उसकी शुद्ध पर्याय बन जाती है। सिद्धोंके बारे में आप जो विचार कर रहे हैं, वह विचार शुभ है अतः अशुद्ध है। परके सम्बन्धमें हुए निज विचारको ही जीव जान सकता है, विचार मात्र अशुद्ध है। इस मलिन अवस्थामें भी चैतन्य स्वभाव अनादि अनन्त शुद्ध है। आत्मा द्रव्य दृष्टिसे शुद्ध है, पर्याय दृष्टिसे अशुद्ध है।

द्रव्य और पर्यायके मुकाबिलेमें जितने भी पर्याय ज्ञान हैं, सब अशुद्ध है, गुण मात्र शुद्ध हैं। जैसे ज्ञानकी मत्यादि ५ पर्याय अशुद्ध हैं, परन्तु ज्ञान सामान्य गुण है, अतः शुद्ध है। भेद दृष्टिसे गुण शुद्ध है और अभेद दृष्टिसे स्वभाव शुद्ध है। ज्ञानके मति श्रुतादि ५ परिणमन अशुद्ध हैं। अशुद्ध माने पर्याय है। शुद्ध माने स्वभाव—यहाँ पर शुद्ध अशुद्धका यह अर्थ लेना। विशेष पर्यायें विनाशी हैं, जो विनाशीक है, वह जीव तत्त्व नहीं है। जो विनाशीक है, वह अशुद्ध है और जो अविनाशी है वह शुद्ध है। केवल शुद्ध चैतन्य स्वभावके अवलम्बनसे शुद्धता प्रकट होती है। यहाँ अशुद्धका अर्थ 'चल' है और शुद्धका अर्थ निश्चल है। निश्चलके अवलम्बनसे जीव शुद्ध होता है। जो शुद्धको आश्रय करके जानता है, वह शुद्ध होता है और जो अशुद्धको आश्रय करके जानता है, वह अशुद्ध होता है।

राग-द्वेष, क्रोध, स्थावर, त्रस, संसारी, मुक्त आदि जीव हैं—यह सब व्यहारका कथन है। मुक्त ही यदि जीव होता, जिस समय जीव मुक्त नहीं हुआ था तो क्या उस समय वह जीव नहीं था? यदि संसारी ही जीव होता तो मुक्त जीव जीव नहीं है?

**निश्चय दृष्टिसे जो समझा उसके अवलम्बनसे द्रव्यमें निर्मल पर्याय बनी।**

शुद्ध द्रव्यके अवलम्बनसे जो जीवका कल्याण होना है। यदि कोई कहे कि हम तो निश्चय निश्चयको मानेंगे, व्यवहारको हम नहीं मानते तो वह समझही नहीं सकता। किसी बातको व्यवहारसे समझकर फिर निश्चय दृष्टि से कहो तो वह समझना तुम्हारा ठीक है। जीव न वीतराग है, न सराग है जीव न सकषाय है और न अकषाय है। जीव न संसारी है और न मुक्त है, जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। किन्तु एक ज्ञायक स्वभाव और चैतन्य स्वभाव जीव है बाकी पर्याय रूप। यह सब व्यवहारका वर्णन है। मोटे रूपमें ऐसा जानोकि शरीर मैं नहीं हूँ, क्योंकि शरीर नष्ट हो जाने वाली चीज है; मनुष्य मैं नहीं हूँ, देव मैं नहीं हूँ, नारकी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये सब पर्याय हैं। पर्यायमात्र नष्ट हो जाने वाली चीज है। राग मैं नहीं हूँ, तथा वर्तमान ज्ञान

जो हो रहा है, वह भी मैं नहीं हूं, क्योंकि ये चीजें सब मिट जायेंगी, परन्तु मैं नष्ट होने वाला नहीं हूँ। मै चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं। जो जो परिणमन मेरेमें हो रहे है, वह सब मै नहीं हूं। सर्वत्र द्रव्य परिपूर्ण है, ऐसी वात द्रव्य-दृष्टिमें समझ पाओगे। द्रव्य-दृष्टिका जो तत्त्व है, वह कारण समयसार है। कारण समयसारके अवलम्बन से जो कार्य बनता है, वह सब कार्य समयसार है। जीव रूपसे जो रागादि कहे गये हैं, यह सब व्यवहार दर्शन है। क्योंकि यह जीव सब पर्यायोंमें गया है। जीवका पर्यायोंसे ही विशेष परिचय है, अतः उसे पर्याय की बात कहकर ही समझाया जा सकता है। अतएव साधारणतया बताया जाता है कि जीव संसारी है, मुक्त है, त्रस है, स्थावर है, मनुष्य है, देव है, आदि। यह सब व्यवहारका कथन है। व्यवहार निश्चयका प्रतिपादक है। अर्थात् जो बात हमारे निश्चयनयसे समझमें आई है, वह हम व्यवहार द्वारा ही कह सकते हैं। या यों कहिये कि निश्चयकी बातको व्यवहार द्वारा ही समझाया जा सकता है। जैसे हम मन्दिरमें देख रहे हैं, हरा रङ्ग दिखाई दे रहा है। हम उसे देख कर ही कह सकते है कि मन्दिरमें विजली जल रही है। इसी प्रकार जीवमें राग है जीवमें राग कहनेसे ही तुम समझ जाओगे कि जीवमें चेतना गुण अवश्य है। जैसे मन्दिरमें खूंटीपर माला टंगी दिखाई दे रही है। उसे देखकर ही हम समझ जायेंगे कि मन्दिरमें विजली जल रही है।

मोटे रूपमें यह जानना कि शरीर मैं नहीं हूँ राग मैं नहीं हूं। मैं इसका पिता हूं, मैं इसका मामा हूं, मैं इसका भानेज हूँ आदि बातें तो सब कल्पनाकी चीज है। इन सब अहङ्कारोंको दूर करना है और कारण समयसारको समझना है। कारण समयसारको समझकर उसकी ओर दृष्टि लगानी है। उसकी ओर दृष्टि लगानेसे ही हमारा कल्याण होना है।

जिसका अवलम्बन करके हम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते है, वह चीज जीव में अनादिसे ही है। जीवको जब उस अनादि अनन्त चीजका ज्ञान होता है, तभी सम्यक्त्व होता है। उसका आलम्बन लिया समझो, सम्यक्त्व पैदा हो गया। उस अनादि अनन्त चैतन्य स्वभावके अवलम्बन न लेनेसे सम्यक्त्व नहीं

उत्पन्न होता है। वह अपने अन्दर अनादिकालसे मौजूद है और सदा तक बना रहेगा। जिसके आलम्बनसे सम्यक्त्व जगता है, उसे कारण समयसार कहते हैं। उसका आलम्बन लो या न लो, फिर भी वह चीज अनादिकालसे अपने अन्दर है, और अन्त तक बनी रहेगी। जिस तरह पत्थरमेंसे जो मूर्ति निकालनी है, वह उसमें पहलेसे ही विद्यमान है पत्थरमें जो परमाणु स्कन्ध मूर्तिको ढके हुए हैं, चारों ओर लगे है, उस मूर्तिको ज्योंकी त्यों निकालनेके लिए उन पत्थरों को हटाना पड़ता है। जो मूर्ति उस पत्थरमें से प्रकट होगी, वह उसमें पहलेसे ही विद्यमान है। इसी तरह वह स्वभाव जो कि प्रकट होनेपर भगवान कहलाता है, आत्मामें पहिलेसे ही विद्यमान है, किन्तु उसके आवरक राग द्वेष आदि भाव हैं उन्हें हटा देनेपर स्वयं प्रकट हो जाता है। स्वभावके समान पर्याय का होना सिद्ध अवस्था है। स्वभावसे विषम अवस्थाओंका होना संसार अवस्था है।

हम चैतन्य स्वभावका अवलम्बन लें, तभी हम शुद्ध बन सकते हैं। चैतन्य स्वभावके अवलम्बनसे ही सम्यक्त्व जाग्रत होता है। सत्संग, पूजा, भक्ति, ध्यान ये धर्म नहीं हैं। जिसके आलम्बनसे धर्म होता है, सम्यक्त्व जगता है, वह हमारेमें पहलेसे ही मौजूद है। चैतन्य स्वभाव ही जीव है, इस बातको लक्ष्यमें लेकर, 'रागादि जीव है' इस बातका खण्डन किया गया है।

समस्त ये अध्यवसानादिक भाव जीव हैं ऐसा सिद्धान्त शास्त्रमें वर्णित है, सर्वज्ञ देव द्वारा प्रज्ञप्त है वह अभूतार्थनयका दर्शन है, व्यवहारनयका दर्शन है। यह बात यद्यपि अभूतार्थ है अर्थात् स्वयं सहज नहीं हुआ अर्थ है तो भी संसर्ग एवं सांसर्गिकता रूप व्यवहारके आशयसे तो ठीक है। यहां शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि है अतः वास्तवमें ठीक नहीं है अर्थात् उक्त पर पदार्थ व परभाव जीव नहीं हैं। फिर भी व्यवहार तीर्थ प्रवृत्तिके लिये दिखाना न्याययुक्त है, क्योंकि यद्यपि व्यवहारमें जो कहा गया वह अपरमार्थ है तथापि परमार्थका प्रतिपादक अवश्य है। हां यदि कोई परमार्थकी प्रतिपादकता रूपसे व्यवहारका अर्थ न करे तो उसकी यह व्यवहारविमूढ़ता है। तथा जो व्यवहारको झूठ कहकर

सर्वत्र भेद ही भेद देखे, जैसा कि परमार्थ दृष्टिमें परभावसे, भेद दिखा करता है पर्याय दृष्टिमें भी देखे तो उसकी यह निश्चयविमूढता है। इस मान्यतामें क्या अनर्थ हो सकता है सो देखो—इसने ऐसा देखा कि जीवस्थान जितने हैं अर्थात् त्रस स्थावर ये सब कोई जीव नहीं हैं तब जीवका देहसे सम्बन्ध न माननेपर त्रस और स्थावरोंका राख धूलकी तरह निःशङ्क उपमर्दन किया जायगा, उससे किसीकी हिंसा होगी नहीं, ऐसी स्वच्छन्दता हो जावेगी। इससे अनर्थ क्या होगा (१) निजहितके लिये तो यह अनर्थ होगाकि पर जीव उस उपमर्दनादिके निमित्तसे संक्लेशसहित मरण करेगा और जो जितने विकासपदसे मरण करेगा उससे नीचे के स्थानमें जन्म लेगा इस तरह वह मोक्षमार्गसे दूर होगा और नीच योनि, नीच कुल, नीच गतिमें जीवन रहनेसे दुःखी रहेगा। (२) खुदके लिये क्या अनर्थ होगा कि वह तो भेद ही भेद देख रहा और निःशङ्क प्राणिघात कर रहा है, और हिंसा भी न हो तो बन्धका भी अभाव हो जायेगा। अब देखो मोक्ष तो बद्धका हो तो होता, सो बद्ध ये है नहीं तो मोक्षका उपाय क्यों किया जाय, लो इसी तरह मोक्षका भी अभाव हो गया। लो, कल्याण मार्ग ही खतम होगया है सर्वथा भेददर्शी तो राग, द्वेष, मोहसे जीवको सर्वथा भिन्न ही देख रहा अब राग, द्वेष, मोहसे मुक्त होनेका उपाय ही क्यों होगा। सो भैया! व्यवहार व परमार्थको ठीक ठीक समझो. एकान्त दृष्टिमें लाभ नहीं है, हानि है। अतः व्यवहारकी बात व्यवहारमें सत्य मानकर उसका विरोध न करके मध्यस्थ होकर परमार्थ दृष्टिका अवलम्बन करके निस्तरङ्ग तत्त्वका निस्तरङ्ग अनुभव करो।

भूतार्थदृष्टिसे चैतन्य स्वभाव ही जीव है। तथा राग द्वेष, मोहादि अध्यवसानोंको जीव कहना व्यवहारका दर्शन है। भूतार्थ माने स्वयं ही होने वाला तत्त्व यह तत्त्व अनादि, अनन्त, स्थायी होता है। रागादि भाव मलिन भाव हैं। रागादि अभूतार्थ हैं। रागादि अभूतार्थ दृष्टिसे कहे गये हैं। ये व्यवहार जीव हैं।

व्यवहार अभूतार्थ होता है तथापि इसके कहनेका प्रयोजन है.—

जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छोंको परमार्थ समझानेके लिए बोली जाती है वैसे अपरमार्थ परमार्थको बतानेके लिये कहा जाता है। व्यवहारका दर्शन धर्मकी प्रवृत्ति चलानेके लिये किया जाता है। यदि व्यवहार न हो तो एक बड़ा नुकसान यह होता है कि धर्मप्रवृत्ति नष्ट हो जाती है केवल निश्चय ही एकान्त हो और व्यवहार बिल्कुल न मानो तो अर्थ यही हुआ कि शरीरसे जीव अत्यन्त न्यारा है तो जिस चाहे जीव की हिंसा करते रहो, किसी तरहका कोई भय नहीं रहेगा। शरीरको कुचलते जाओ, जीव तो न्यारा है ही अतः जीवका क्या बिगाड़ ? करते जाओ हिंसा, पाप नहीं लगेगा। व्यवहार न माननेसे यह स्वच्छन्द प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाएगी। राख मिट्टीकी तरह त्रसोंको लोग कुचलेंगे व्यवहार न माननेसे शरीरके हननसे जीवोंकी हिंसा न होनेसे बन्ध भी नहीं होगा। जब बन्ध नहीं हुआ तो मुक्त होनेकी क्या आवश्यकता है ? अतएव मोक्षका उपाय भी व्यर्थ है। जो व्यवहार जीव न माने, उसे मोक्षके उपायमें भी नहीं लगना चाहिए। क्योंकि उसकी दृष्टिमें शरीरके कुचलनेसे हिंसा नहीं होती है एवमेव अन्य पाप भी नहीं होते। क्योंकि वहाँ रागद्वेष जीवसे न्यारा है. फिर उससे छूटने की क्या जरूरत है ? मोक्षका उपाय न बननेसे मोक्ष भी नहीं रहता। इस प्रकार जिन ग्रन्थोंमें बताया गया कि त्रस जीव है, स्थावर जीव है, मुक्त जीव है, संसारी जीव है—यह भी धर्मको चलानेके लिये कहा गया है। निश्चयका जीव तो ज्ञानके कामका है कि उसे समझो। व्यवहार न माननेसे यह दोष आयेगा कि कोई ऐसी बुद्धि बनी रहे कि शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है तो शरीरको मारते जाओ, जीव उसकी दृष्टिमें मरेगा ही नहीं। जीव न मरनेसे फिर हिंसा किसकी ? जो व्यवहारको नहीं मानता उसका मोक्षका उपाय भी नहीं बन सकता है।

अपने बारेमें जीवपना कैसा स्वीकार किया ऐसा कि चैतन्य मात्र जीव है। पर्यायोंको जीव रूपसे नहीं माना है, यहाँ स्वभावको जीव रूपसे माना है। तो फिर त्रसादि जीव हैं, यह व्यवहार क्यों चला इसका उत्तर आचार्य महाराज दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

**राया हु णिग्गदोत्ति य एसो वलसमुदयस्स आदेसो ।**
**ववहारेण हु उच्चइ तत्थेवको णिग्गदो राया ॥४७॥**

**एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं ।**
**जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेवको णिच्छिदो जीवो ॥४८॥**

सेना समुदायके सम्बन्धमें ऐसा कथन होता है कि यह राजा जा रहा है सो यह व्यवहारनयसे कहा जाता है। निश्चयसे देखो तो वहां एक ही राजा जा रहा है। बाकी तो सब सेनाके लोग है। इसी प्रकार अध्यवसानादि अन्य भावोंके सम्बन्धमें ऐसा कथन होता है कि यह जीव है सो सूत्र (सिद्धान्तशास्त्र) में व्यवहार किया गया है (व्यवहारनयसे ऐसा कहा गया है)। निश्चयसे देखो तो वह एक ही (अनाद्यनन्त एकस्वरूप) जीव निश्चित किया गया है। जैसे एक राजा सज धज करके सेनाके साथ जा रहा है। लोग उसको देखकर कहते हैं कि देखो, यह राजा १० कोसमें फैला हुआ गया है। लेकिन राजा तो एक है वह ३–४ हाथ का होगा वह तो १० कोसमें फैल नहीं सकता है। परन्तु व्यवहारमें कहते हैं कि यह राजा १० कोसमें फैलकरके जा रहा है। राजा तो एक पुरुष मात्र है मगर राजाका सेनाके साथ सम्बन्ध है, अतः राजा को १० कोसमें फैलकर चलने वाला बताया जाता है। इसी प्रकार जीव तो एक है। वह नाना परिणतियोंमें जाता है, अतः जिन-जिन पर्यायोंमें से वह गुजरता है, उन उन पर्यायोंको भी व्यवहारमें जीव कहने लग गये हैं। अतः पर्यायोंमें जीवका उपचार किया जाता है। देखो जितनीं पर्यायें है, उतने जीव नही है, क्योंकि जीव तो नाना पर्यायोमें क्रम क्रमसे जाता है। जीव तो वास्तव में एक है, यह नाना पर्यायोंमें चलता रहता है। हम जीव एक है, मनुष्य, तिर्यंच, देवादि नाना पर्यायोमें क्रम क्रमसे जाते हैं। नाना पर्यायोंमें जाना जीव तो नही हुआ। जीव यद्यपि एक है, चैतन्य मात्र है, तथापि रागादि जो अनेक परिणमन हैं, वह उनमें व्याप्त हो गया है। वस्तुतः जीवका जैसा स्वरूप माना,

वैसा है, जीवका स्वरूप रागादिमें व्याप्त नहीं है, फिर भी व्यवहारी जन रागादि भावोंमें जीव मानते हैं।

देखो, आत्मामें आनन्द भरा है, जिस आनन्दको आश्रय करके जीव अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होता है।

धनके उपार्जनसे आकुलता ही मिलती है। धनको चोर, डाकू लूट ले जायेंगे, २४ घण्टे इसी का भय बना रहता है। बाह्य जितने भी पदार्थ हैं उनमें आत्मबुद्धि जानेसे जीवको अनाकुलता नहीं मिलती है। वास्तवमें देखा जाये तो शरीर मैं नहीं हूँ। जैसे जीवके निकलनेपर शवमात्र रह जाता है, ऐसा ही तो यह शरीर है। जिस कालमें शरीरमें जीव रह रहा है, तब भी शरीर जीव नहीं है। शरीरसे मैं जुदा हूँ। शरीर मेरेसे जुदा है।

इस आत्मामें रूप नहीं है, स्पर्श नहीं है, रस नहीं है, गन्ध नहीं है, शब्द नहीं है। यह आत्मा पकड़नेपर नहीं पकड़ा जाता है। यह आत्मा ज्ञान द्वारा समझमें आता है। जीवका सीधा सादा लक्षण यह है कि जो जानता है, सो जीव है। जीव अखण्ड है। यह जीव अपने गुण, पर्यायोंमें रत है। इसका परिणमन इसमें ही होता है। आत्माका परिणमन इससे बाहर नहीं हो सकता है। इसे दुनियांके लोग पहिचान नहीं सकते हैं। लोग जिसे देखते हैं, वह मैं आत्मा नहीं हूँ। मैं तो चैतन्य मात्र हूँ इस प्रकारकी भावनासे जो परके विकल्प दूर हो जाते हैं, इन विकल्पोंके हटनेसे आनन्द प्राप्त होता है। इस निर्विकल्प दशासे जो आनन्द प्राप्त होता है, ऐसा आनन्द कुछ भी किया जाये, अन्यत्र नहीं मिल सकता है।

हम परमार्थमें कैसे पहुंचे, इसके लिये उपाय व्यवहार है। जैसे व्यवहारसे सेनाको राजा कह देते है, उसी प्रकार इन रागादिको भी व्यवहारमें जीव कह देते हैं। परमार्थसे जीव एक ही है।

देखो जैसे व्यवहारी जन किसी सम्बन्धके कारण सेना समुदायमें "यह राजा है" ऐसा व्यवहार करते हैं। परमार्थसे तो राजा एक ही है। इसी प्रकार व्यवहारी जन किसी सम्बन्धके कारण अध्यवसनादि अन्यभावोंमें "यह

जीव है" ऐसा व्यवहार करते हैं। परमार्थसे तो जीव एक ही है। जीवकी जितनी पर्यायें हैं वे जीव हों तो जीव अनेक होगये। यहाँ अनन्त जीवोंको एक होनेका दोष नहीं दिया जा रहा है किन्तु किसी भी एक जीवके बारेमें विचार करो, उस जीवकी भूत भविष्य, वर्तमान सम्बन्धी अनन्त पर्यायें हैं वे यदि जीव हों तो जीव अनेक हो जावेंगे। उनमें एक जीव तो रहा नहीं फिर तो असत्का उत्पाद, सतका विनाश, व्यवहारका लोप, मोक्षमार्गका लोप आदि सभी विडम्बनायें प्रस्तुत होंगी, जो कि हैं नहीं। अतः व्यवहारको असत्य न समझो, किन्तु व्यवहारका विषय जानकर उसमें मध्यस्थ होकर परमार्थतत्त्वका आश्रय लो। यथार्थ ज्ञान होनेपर सब समझमें आजाता है। विज्ञेष्वलमधिकेन।

अब पूछते हैं कि परमार्थमें एक ही जीव है तो यह किस लक्षण वाला है? इसका उत्तर आचार्य इस गाथा द्वारा देते हैं :—

**अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।**

**जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥**

जीवको रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त (स्पर्शरहित), शब्दरहित चेतना गुण वाला, अलिङ्गग्रहण (जिसका किसी लिङ्ग, साधन व चिन्हसे ग्रहण नहीं होता) व अनिर्दिष्ट संस्थान (जिसका स्वभावतः कोई आकार निर्दिष्ट नहीं है) जानो।

जीव रसरहित है। जीव द्रव्येन्द्रियके द्वारा भी रसका रसन नहीं करता है। जीव भावेन्द्रियके द्वारा रस ग्रहण नहीं करता है। जीव जानता है, केवल वह रसको ही नहीं जानता हैं। जीव रूपादिक, ज्ञानादिक गुण व उसकी अनेक पर्यायोंको जानता है। जीव रसको जानता है, फिर भी जीवमें और रसमें तादात्म्य नहीं हो जाता है। इन सब बातोंके कारण जीव रससे रहित है।

जैसे हमने भोजन किया। भोजन करनेसे हमें रस आया। परन्तु वह भोजनका रस भोजनमें ही रहेगा। भोजनका रस आत्मामें नहीं जा सकता

है। जैसे आम खानेमें स्वाद आया। उस स्वादमें है आत्माकी आसक्ति, अतः हम कह देते हैं कि आमका स्वाद हममें आया निश्चयसे रस मुझमें नहीं। रस गुणका तादात्म्य पुद्गल द्रव्यमें है वह आत्माका कुछ नहीं हो सकता।

इस अमूर्त आत्माका काम दर्शन, ज्ञान, चारित्रका परिणमन है। अमूर्त तो आत्मा अनादिसे अनन्त कालतक है, ऐसा नहीं कि जीव सिद्ध होनेपर ही अमूर्त होता हो। आत्मामें कर्म-बंध होनेके कारण जीवको उपचारसे मूर्त भी कह दिया है। आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रका पुञ्ज है।

जिसके रागबुद्धि न हो उसे रंच भी दुःख नही होता। शरीरमें राग होनेसे आत्मा दुखी रहता है। जैसे व्यवहारमें कहते है कि उसे भूख लगी है। परन्तु भूखको हाथमें लेकर या किसी भी प्रकार दिखाया नहीं जा सकता है। 'भूख' 'बुभुक्षा' से बना है। भोक्तुमिच्छेति बुभुक्षा। अर्थात् खानेकी इच्छाको भूख कहते हैं। शरीरमें राग है, तभी तो भूख लगती है। जीवको भूख तो लग सकती है, परन्तु जीव खा नहीं सकता है। भूख तो आत्माका परिणमन है। भूख शरीरका भी परिणमन नहीं है। वस्तुतः आत्माका भी परिणमन नहीं है। खानेसे भूख इसलिए शान्ति होती है कि खानेकी इच्छा मिट जाती है। खानेकी इच्छा मिटनेसे भूख शान्त होती है। वह शान्त किसी को खानेके निमित्तसे आवे या बिना खाये आवे। बड़े-बड़े योगी बिना खाये ही इच्छा शान्त कर लेते हैं।

यदि सम्पूर्ण इच्छाएं शान्त हो जायें तो केवल ज्ञान हो जाता है। परन्तु आज कल इच्छा ही किसीकी शान्त नहीं होती है। भूखकी शान्ति इच्छाके ही मिटनेसे होती है। अतः खाना जीवका काम नहीं है। हाँ, भूख लगना जीव का काम है। यह विभाव है। कोई बिना खाये ही इच्छा शान्त कर लेते हैं। कोई खा करके इच्छा शान्त करते हैं। इच्छा मिटनेका नाम ही भूखका मिटना है। भूखका अर्थ खानेकी इच्छा है।

जीवका लक्षण बताया जा रहा है कि जीव वह है, जिसमें रूप-रस-गंध-स्पर्श नहीं है, परन्तु जीवमें चैतन्य गुण है। इसकी और भी विशेषतायें बताई जायेंगी। आत्मामें रस नहीं है, इसको छह ढंग से बताया गया है:—

आत्मा रस गुण नहीं है, रस गुण पुद्गलमें होता है, आत्मा पुद्गलसे जुदा है।

कोई यह कहे कि आत्मामें रस गुण नहीं है, यह तो हम भी मानते हैं, परन्तु आत्मा स्वय रस गुण है। आचार्य कहते हैं कि नहीं, आत्मा स्वयं रस गुण भी नहीं है, क्योंकि रस गुण पुद्गलका तत्त्व है। पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न होनेसे आत्मा स्वयं रस भी नहीं है।

**प्रश्नः—अनुभवरस भी तो रस है फिर कैसे रससे जुदा है ?**

उत्तर—आनन्द गुणकी ३ पर्याय हैं:—१-सुख, २-दुख; और ३-आनन्द। 'ख' इन्द्रियको कहते हैं। जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे, उसे सुख कहते हैं और जो इन्द्रियोंको न रुचे, उसे दुख कहते हैं। आ समन्तात् आत्मानं नन्दतीत्या नन्दः। अर्थात् जो चारों ओरसे आत्माको समृद्ध करे, उसे आनन्द कहते हैं। 'टुनदि समृद्धो' धातु है। अतः आनन्द आत्माको समृद्ध करने वाला है। इस संसारमें सुख दुख दोनों चल रहे हैं। अर्थात् सुख और दुख दोनों ही संसार के कारण हैं। आनन्द संसारमें नहीं है। कहीं कहीं पर आचार्योंने आनन्दका भी सुख नामसे निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि आचार्योंका उद्देश्य अज्ञानियोंको सरलसे सरल भाषामें समझानेका रहा है। अतः आचार्योंने आनन्दको 'सुख' नामसे निर्दिष्ट किया है, क्योंकि संसारी जीवोंका सुखसे अधिक परिचय है। आनन्द पर्याय भगवान केवलीके पाया जाता है। जव भगवान् केवलीके इन्द्रियां ही नहीं होती हैं तो उनकी इन्द्रियोंको सुहावना ही क्या लगेगा अतः भगवान्में अनन्त आनन्द है। ऐसे ही आनन्दोंको अनुभव रस शब्दसे कह दिया जाता है। यहां प्रकरण उस रसका है जिसका काला पीला, नीला, लाल सफेद परिणमन होता है।

कोई यह कहे कि आत्मा द्रव्येन्द्रियोंके द्वारा रसका रसन करता है। अतः आत्मा रसवान है। उत्तरमें कहते हैं कि आत्मा रसनेन्द्रियके द्वारा रसता ही नहीं है। द्रव्येन्द्रिय पुद्गल द्रव्यका परिणमन है। आत्मा पुद्गल द्रव्यका स्वामी नहीं है। तव आत्मा जो करेगा वह अनात्माके द्वारा कैसे करेगा। आत्मा रस-ज्ञान ज्ञानके द्वारा ही करता। स्वादना, देखना, सूंघना, सुनना सब ज्ञान ही

तो हैं। आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा नहीं रसता। अतः आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा रसनेसे रसवान है यह युक्त नहीं है। आत्मा अरस ही है।

भैया! जो कुछ यह दिख रहा है शरीरमें, यह सब स्पर्शन इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियां है किन्तु वे व्यक्त नही हैं। क्योंकि स्पर्शनेन्द्रियका ज्ञान तो छूकर जानकर अथवा देखकर हो सकता है, परन्तु शेष चार इन्द्रियाँ (रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) अव्यक्त हैं, स्पर्शनेन्द्रिय व्यक्त हैं। जो बताओगे कि यह रसना है, यह घ्राण है, यह चक्षु है अथवा यह कर्ण है, वह सब स्पर्शनेन्द्रिय हैं। रसना इन्द्रिय कहां से स्वाद लेती हैं, पता नहीं चलता, क्योंकि वह अव्यक्त है। घ्राण इन्द्रिय कहां से गन्ध ग्रहण करती है, पता नहीं चलता है, क्योंकि ये सब इन्द्रियां अव्यक्त हैं। दिखने वाले स्पर्शनोंके और अन्दर कुछ ऐसी क्वालिटी हैं कि उसको निमित्त पाकर जीव चखता, सूंघता, देखता और सुनता है। वे स्पर्शनसे भिन्न है अतः अन्य इन्द्रिय हैं।

आचार्य कहते हैकि यह आत्मा अरस है, अगन्ध है, अदृश्य है और अशब्द है। इस पुद्गल द्रव्यका मालिक जीव नहीं है। जो जिसका स्व है, वही उसका स्वामी है। शरीरका स्वामी शरीर है, परमाणुका स्वामी प्रत्येक परमाणु है। क्योंकि प्रत्येक परमाणुके प्रदेश गुण पर्याय दूसरोंसे न्यारे-न्यारे हैं। इस प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कैसे स्वामी बन सकता है। अतः आत्मा द्रव्येन्द्रियोंके द्वारा भी रसन नहीं करता है।

सकषाय जीव है तो निमित्त-नैमित्तिक भावके कारण उसका शरीर स्वयमेव बन जाता है, अन्य कोई इसका आविष्कार नहीं करता है। जीभ, नाक, आंख आदि निमित्तनैमित्तिकतासे बन जाते हैं। इस जीभके पीछे ही सारे झगड़े फिसाद होते हैं। पता नहीं, इस जीभमें कहांसे रस ग्रहण होता है और कैसे स्वाद आजाता है। जीभके अग्रिम भागसे ही स्वाद आता है। वहां भी स्पर्शन है और वहीं अव्यक्त रसनाइन्द्रिय है।

यह जीव पुद्गल द्रव्यका स्वामी नहीं हैं। अतः यह भी मत कहो कि यह जीव रसनेन्द्रियके द्वारा स्वाद लेता है।

अब फिरसे जिज्ञासु कहता है कि अच्छा, यह जीव रसनेन्द्रियके द्वारा

स्वाद नहीं लेता है, न सही, परन्तु यह भावेन्द्रियोंके द्वारा तो रस ग्रहण करता हैं। इन्द्रियोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है, उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। यह आत्मा भावेंद्रियके द्वारा तो रसज्ञान करता है ? तो कहते हैं कि यह आत्मा स्वभावतः भावेन्द्रियोंके द्वारा भी रस ग्रहण नहीं करता है।

जीवका लक्षण वही हो सकता है, जो जीवमें अनादिसे अनन्त कालतक पाया जाये। जीवमें हमेशा रहने वाला चैतन्य स्वभाव है। चैतन्य गुण जीवमें त्रिकाल रहता है। आत्मामें स्वभावसे क्षायोपशमिक भावका अभाव है। अतः यह आत्मा निश्चयतः भावरसनेन्द्रियके द्वारा भी रस ग्रहण नहीं करता है। अतः स्वभावतः अरस है।

जिज्ञासु पुनः पूछता है कि आत्मामें क्षायोपशमिक भावका अभाव है, अतः आत्माको अरस मान लिया, परन्तु आत्मा किसी प्रकार भी जानता हो आखिर जानता तो है। अत आत्मा रस वाला कहलाया। उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि नहीं। केवल यह आत्मा रसको तो नहीं जानता है अनेकों ज्ञेयोंका साधारण संवेदन करता है यह। अतः यह आत्मा रसवाला नहीं है। इस पर जिज्ञासु एक आखिरी जिज्ञासा प्रकट करता है कि यह आत्मा रसको जानता है इतनेसे नहीं है तो न होओ, किन्तु यह तो रसके ज्ञानसे आत्मा रसवान परिणत हो जाता है, तन्मय हो जाता है। अतः रस वाला कहो। उत्तर–यह आत्मा रसके ज्ञानमें परिणत तो होता है, परन्तु ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है और ज्ञायक ज्ञायक ही रहता है। ज्ञेय ज्ञायक नहीं हो सकता है तथा ज्ञायक ज्ञेय नहीं हो सकता है। जेसे आगके जाननेसे आत्मा गर्म नहीं होता है। छुरीके जाननेसे आत्मा कट नहीं जाता है। जैसे मिठाईका स्मरण करनेसे मुंहमें पानी आजाता है, परन्तु उसका स्मरण करनेसे आत्मामें रस नहीं पहुंच जाता है। जैसा आत्मा ख्याल बनाता है, वैसा ही अनुभव करता है। मिठाईको भी यदि जीभपर रखो, तभी अनुभव ज्ञानका ही होता है। रसका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होता है। इसको निमित्त पाकर आत्मा रसको जानता है। रसको आत्मा जानता है, अतएव रसका आत्मासे तादात्म्य हो जाता हो, ऐसा नहीं है।

जैसे पुस्तकपर उजेला पड़ रहा है, यह उजेला पुस्तकका ही है, विजलीका नहीं है। विजलीका प्रकाश उसकी लौसे वाहर नहीं है। पुस्तकपर जो प्रकाश पड़ा है, वह पुस्तकका ही है। क्योंकि पुस्तकका परिणमन पुस्तकमें ही है, बिजलीका परिणमन विजलीमें ही हो रहा है। फिर बिजलीका प्रकाश पुस्तक पर कैसे पड़ सकता है ? हां विजलीको निमित्त पाकर यह पुस्तक स्वयं प्रकाश युक्त हो गई। इसी प्रकार आत्मा अपनेको ही जानता है। आत्मा विश्वके आकार रूप परिणत स्वयंको ही जान रहा है। आत्मा विश्वको जान ही नही सकता है। हां, विश्वके आकाररूप परिणत आत्माको आत्मा स्वयं जान रहा है। जैसे बिजलीका निमित्त पाकर उसके पासका परमाणु स्कंध प्रकाशमान है। विजलींका निमित्त पाकर जिस परमाणु-स्कन्धके जितने प्रकाशकी योग्यता है, उस ही योग्यताके मुआफिक वह स्कन्ध अपनी योग्यता प्रकट करता है। सूर्यको निमित्त पाकर पासके परमाणु-स्कन्ध स्वयं प्रकाशरूप परिणत हो जाते हैं। सूर्यके उन परमाणुओंके किरणें नहीं हैं, किरणें आंखने स्वयं देखनेकी पद्धतिमें वनाई है। आंखके देखनेका जो मार्ग है, उस उस रास्तेमें आने वाले उसको स्कन्ध दिखाई देते हैं, जो कि स्वयं प्रकाशमान हैं। वे स्कन्ध उसको चमकते दिखाई देनेके कारण किरण मालूम पड़ते हैं।

चीज दो तरहकी होती है—१—व्यवहार और २—निश्चय। वस्तुकी चीज उसी वस्तुमें बताई जाये उसें निश्चय चीज कहते हैं और वस्तुकी चीज उस वस्तुसे वाहर बताई जाये, उसे व्यवहार चीज कहते हैं।

एक द्रव्यकी चीजें यदि दूसरे द्रव्यमें पहुंच जाये तो द्रव्यका ही अभाव हो जायेगा। अतः एक द्रव्यकी चीज दूसरे द्रव्य में पहुंच ही नहीं सकती है।

आत्मा रसके ज्ञानमें परिणत है. रस ज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है। ज्ञेय ज्ञायक नहीं हो सकता है और कभी भी ज्ञायक ज्ञेय नहीं हो सकता हैं। अतः आत्मा रस वाला नहीं हो सकता है। इस प्रकार आत्मा अरस है, यह सिद्ध हुआ।

आत्मा रूप रहित हैः—

काला-पीला-नीला-लाल और सफेद-ये रूपकी पर्याय भी आत्मामें नहीं हैं। इनका आधारभूत रूप भी आत्मामें नहीं है। आत्मा सम्पूर्ण विश्वका जानने देखने वाला है। जिस तरह आत्माको छः प्रकारसे अरस सिद्ध किया, उसी प्रकार छः ढंगसे ही आत्माको अरूप बताते हैं।

आत्मामें रूप नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है। आत्मा पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है, यह बात विचार करनेमें, विकल्प छोड़नेसे आप अपने आप समझमें आजाती है। समझमें आता है कि शरीरसे आत्मा पृथक् है। आत्मा पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है, अतः इसमें रूप नहीं है। क्योकि रूपादि पुद्गलके गुण हैं। ये गुण पुद्गलके बाहर नहीं पाये जाते हैं, पुद्गलमें ही पाये जाते हैं। मूर्तपना तो जीवका लक्षण नहीं है। जीवका लक्षण तो अमूर्तपना भी नहीं है क्योंकि उस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष है। जीवका लक्षण तो चैतन्य गुण है। किन्तु जहाँ पर जीवकी अनेक विशेषताएं बताई जा रही हैं, उसमें यह बात भी बता दी जाती है कि जीव अमूर्त है। लक्षण तो समस्त दोषोंसे रहित होता है। निर्दोष लक्षण जीवका चैतन्य है।

कहते हैं कि आत्मामें रूप गुण नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु स्वयं रूप नहीं है। आत्मा स्वयं रूप गुण नहीं है और आत्मा रूप भी नहीं है। रूप गुण जिसकी पर्याय काला-पीला-नीला-लाल-सफेद होती हैं, उसे कहते हैं। पांचो पर्यायोंमें रहने वाले गुणको रूपगुण कहते हैं। जैसे आम है, आममें अनेक रूप होते हैं। जिस समय आम छोटा होता है, उस समय काला होता है, उससे कुछ बड़ा हो जानेपर कहते हैं कि आम नीला हो गया है। फिर हरा, बड़ा होने पर पीला-लाल और सड़ जाने पर सफेद रंग हो जाता है। जिस समय आम काला से नीला होता है, उस समय कहते हैं आम नीला होगया है। रूप गुण सभी अवस्थाओंमें रहा जिस समय आम काला-नीला-पीला-लाल-सफेद था, सभी अवस्थाओंमें आममें रूप गुण विद्यमान था। जो रूप गुण समस्त रूपकी पर्यायों में रहता है, उसे रूप गुण कहते हैं। रूप गुणकी पर्यायें काला-पीला-नीला-

सफेद-लाल हैं। आत्मा स्वयं रूप गुण नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है। आत्मा पुद्गल द्रव्य नहीं है, अतः आत्मा स्वयं रूप भी नहीं है। पुद्गल द्रव्यके गुण पुद्गल द्रव्यको छोड़कर बाहर नहीं जा सकते हैं तो फिर आत्मामें रूप गुण कैसे आ सकता है ?

पदार्थ अपने प्रदेश, गुण, पर्याय रूप रहता है। रूप गुण पुद्गल द्रव्यमें ही पाया जाता है, आत्मामें नहीं पाया जाता अत: न आत्मा स्वयं रूप है। आत्माका रूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आत्मा अरूप है। अरूप माने रूप वाला नहीं, आत्मा स्वयं रूप नहीं है, रूपसे भी रहित है।

जिज्ञासु तीसरी बात पूछता है कि तुम कहते हो कि रूपके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है हम कहते हैं कि बड़ा भारी सम्बन्ध है। द्रव्येन्द्रियके द्वारा यह सारी दुनियाँ देखी जा रही है, अतः आत्माका रूपके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उत्तर—आत्माका पुद्गल द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः आत्मा में रूप नहीं है, न आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा विषय करता है। पर पदार्थोंके साथ पुद्गल द्रव्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे इस आँखकी कमजोरीमें कुछ ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि हम चश्मेके द्वारा देख पाते हैं। वास्तवमें चश्मेके द्वारा हम कोई चीज नहीं देखते हैं। देखनेका अर्थ है रूपका ज्ञान। आत्मा चक्षु इन्द्रियके द्वारा नहीं देखता है, किन्तु आत्मा आत्माके द्वारा ही जानता कि इसमें यह रूप है। हाँ, इस आत्माके जाननेमें चक्षु इन्द्रिय निमित्त है। परन्तु देखता है आत्मा ज्ञानके द्वारा ही जैसे हम लोकमें कहते हैं कि हमने चक्षु इन्द्रियसे रूप देखा, कानसे आवाज सुनी, नाकसे फूल सूंघा, जीभसे आम चखा आदि, परन्तु हम इन्द्रियोंके निमित्तसे जानते मात्र हैं। परमार्थसे आत्मा इन्द्रियोंसे नहीं जानता है। परन्तु इन्द्रियाँ आत्माके जाननेमें निमित्त कारण है। व्यवहारमें कोई निमित्त होता है फिर भी द्रव्यस्वभाव पृथक् पृथक् है। व्यवहारकी बात व्यवहारसे देखो। यों तो भैया ! निश्चयकी बात भी निश्चयसे देख पावोगे।

यह सुनिश्चित है कि सब लोगोंका धर्म मूर्ति-मान्यतापर टिका हुआ है। मूर्तिके माने बिना किसीका धर्म नहीं रह सकता है। प्रत्येक धर्म वाले मूर्तिको मानते हैं। कुछ लोग जो मूर्तिको नहीं मानते हैं, उनका धर्म भी मूर्तिमान्यता पर आधारित है। कुछ लोग मूर्तिको नहीं मानते हैं, परन्तु जब तक मूर्ति वाले हम रहेंगे और वे जब तक मूर्तिका खण्डन करेंगे, तभी तक उनका धर्म हो सकेगा। यदि कोई भी मूर्ति न मानें तो फिर वे किसका खण्डन करेंगे। यदि हम लोग मूर्तिको मान्यता न दें, फिर वे किसका खण्डन करेंगे और खण्डन नहीं करेंगे तो फिर उनका धर्म ही क्या रहा? कोई मूर्तिका खण्डन करके अपना धर्म चलाता है, कोई मूर्तिका मण्डन करके अपना धर्म प्रवर्तन करता है। अतः मूर्ति मान्यताके बिना धर्म नहीं चलता है। रहो यह व्यवहार, फिर भी सबके विकल्प उनके प्रत्येकमें हैं।

द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा देखता नहीं है, ऐसा कहकर भी आत्माके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध मत जोड़ो। द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा जानता नहीं है। अतः आत्मासे इन्द्रियोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आत्मा अरूप है।

चौथी बात जिज्ञासु पूछता है कि आत्मा भावेन्द्रियके द्वारा तो जानता है? जाननेकी योग्यता-शक्ति है, उस योग्यताको जो काममें लाना है उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। चूंकि आत्मा भावेन्द्रियोंके द्वारा रूप जानता है इस दृष्टिसे तो आत्माका और रूपका सम्बन्ध है।

उत्तरः—वह जो क्षायोपशमिकभाव है, उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। स्वभावसे आत्मा क्षायोपशमिक भाव नही हैं। अतः आत्मा भावेन्द्रियके अवलम्बनसे स्वभावसे यह रूपज्ञान नही करता है। आत्मा स्वभावसे ऐसा जाने तो हम रूप और आत्माका सम्बन्ध माने इस पर विचार करें। अतः आत्मा अरूप है।

क्षायोपशमिक भाव स्वभावसे उत्पन्न नहीं होता है। क्षायोपशमिक भाव कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। ज्ञान जितना भी प्रकट है, वह आत्माके स्वभावसे ही प्रकट है। क्षायिक भाव भी निमित्तताके कारण स्वभाव भाव नही है। इस निमित्तदृष्टिको भी हटाकर देखो, जो जानना है वह स्वभावभाव है।

पहले समयमें उत्पन्न होने वाला केवल ज्ञान नैमित्तिक भाव है और दूसरे आदि समयमें उत्पन्न होने वाला केवल ज्ञान अनैमित्तिक भाव है। केवल ज्ञान ज्ञानका पूर्ण विकास है। स्वभावसे क्षायोपशमिक भाव नही होता है अतः आत्माका रूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं।

अब जिज्ञासु फिर कहता है कि आत्मा रूपको जानता तो है, अतः आत्मा का रूपके साथ किसी न किसी प्रकारका सम्बन्ध अवश्य है। कहते हैं कि रूपका जानना साधारण संवेदन है। ज्ञान गुणकी सामान्य व्यवस्था है कि वह इतने जाने मात्रसे आत्माका रूपके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ।

इस प्रकार जिज्ञासु अब छठवें ढंगसे कहता है कि आत्मा रूपको जानता है, इतनी ही वात नहीं, इससे तो रूपका कुछ न्यारापन ज्ञात होता है, परन्तु रूपज्ञानमें आत्मा उस रूपज्ञेयाकार ग्रहणमें तन्मय हैं। इस कारण आत्मा अब तो रूपज्ञान वाला है। रूप ग्रहणमें आत्मा रूपपरिणत है, अतः आत्माका रूपके साथ सम्बन्ध है।

उत्तरः—भाई, समस्त ज्ञेय और ज्ञायकका तादात्म्य कभी नहीं होता है। ज्ञेय ज्ञेय रहता है, ज्ञायक ज्ञायक। ज्ञेय ज्ञायक रूप नहीं हो जाता और ज्ञायक ज्ञेय रूप नहीं परिणम जाता है। अतः रूपके ज्ञानमें परिणत होनेपर भी आत्मा रूप रूपमें परिणत नहीं होगया है। ज्ञेय ज्ञायकके तादात्म्य सम्बन्ध का अत्यन्ताभाव है। अत' आत्मा अरूप है। ज्ञेयभूत अर्थका ज्ञायकमें अत्यन्ताभाव है अतः उन सभी ज्ञेयभूतोंसे ज्ञायक जुदा हैं फिर आत्मा अरूप कैसे न होगा। जो कुछ यह वताया, यह सब अपने संवेदनसे ज्ञात है, ऐसा ज्ञात होने वाला आत्मा स्वयं ज्ञायक है।

जब भी शान्ति मिलेगी, इस आत्माकी शरणमें ही मिलेगी। अतः अपने आत्माके उपादानके लिए स्वयं आत्मा वड़ा है। आपका वड़ा भाग्य है जो वस्तु स्वरूपकी स्वतन्त्रता जान रहे हैं। आपका कोई कितना ही वड़ा हितैपी क्यों

न हो, वह आपका कुछ नहीं करता है। आपके पुण्यका असर है, अतः वह आपकी सेवामें निमित्त है। हम कहीं भी किसी अवस्थामें क्यों न हो, चाहे कहीं क्यों न भटक आये हों अन्तमें यही समझमें आयेगा कि अपने लिये मैं आत्मा स्वयं बड़ा हूँ। इस प्रकार आत्मा अरूप सिद्ध हैं।

**निर्विकल्प चिद्घन आत्मस्वरूपकी उपासना करो:–**

जिस आत्माके विषयमें वर्णन चल रहा है कि आत्मा अरूप है, अरस है आदि—वह आत्मा देहमें बस रहा है, देहके प्रत्येक प्रदेशमें रह रहा है, फिर भी परम समाधिके विना, निर्विकल्प स्थितिके विना छोटे क्या, वड़े वड़े हर हरि आदिक भी उसे नहीं जान पाते हैं। हरि नारायणको कहते हैं। जो नारायण हुए हैं, वे सब जिनेन्द्र-भक्त थे, उन्होंने प्रयत्न भर खूब उपाय किया, फिर भी परम समाधिके विना वे इस आत्मरतिको न पा सके। परन्तु नारायणको सम्यक्त्व हो चुका था वे इस रत्नत्रय उपाय द्वारा शीघ्र परमात्मस्वरूपमें होंगे हरका मुख्य लक्ष्य लोगोंका महादेवसे है। महादेव जी एक दिगम्बर मुनि थे। उन्होंने पहले खूब तपस्यायें की तपके प्रभावसे वे ११ अंग और ६ पूर्व विद्याओं के पाठी भी हो गये। १० वें पूर्वके प्रगट होनेपर इन्हें सब विद्याओंने आ घेरा। उन्होंने कहा कि महाराज आप जो भी हमारे योग्य कार्य कहेंगे, हम उस कार्यको पूर्ण कर देंगी। फलतः महादेव जी अपनी निर्विकल्प उपासनासे निवृत्त हो गये। वे भी इस आत्मरतिको प.म समाधिके विना न पासके। किन्तु निर्विकल्प अखण्ड स्वभावकी उपासनाके वलसे शीघ्र परमात्मस्वरूपमें प्रकट होंगे।

साधारण लोग कह देते हैं कि जो देह है वही मैं हूँ। वहुतसे लोगोंकी धारणा हैं कि आत्मामें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श भी है और आत्मा वोलता भी है और वे इस प्रकार की दलीलें भी देते हैं। किन्तु, इस मिली हुई अवस्थामें भी जो शब्द है, वह शब्द पुद्गलका परिणमन है। अतः आत्मा वोलता नहीं हैं, कुछ कहता नहीं है। ऐसा विवेक रखे। हाँ आत्माके विना ऐसा शब्द परिणमन नहीं होता इसीलिए निमित्त कहा जाता है तथा उपादानकी परिणति उपादानमें ही होती है। प्रत्येक पदार्थको स्वतन्त्र निरखना ही विवेक है।

यह आत्मा देहमें वस रहा है तो क्या देहमें वस रहा है ? नहीं वस रहा है। कोई कहे कि शरीरसे इसे जरा अलग तो कर दो, परन्तु तुम उसे अलग नहीं कर सकते। अतः आत्मा देहमें वस तो जरूर रहा है, परन्तु असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे वस रहा है, निश्चयनयसे आत्मा देहमें नहीं वस रहा है। आत्मा आत्मामें रहता है। कभी ऐसा नहीं हुआ कि आत्मा आकाशमें न रहे। फिर भी आत्मा आत्मामें रहता है। निश्चयनयसे आत्मा आकाश द्रव्यमें भी नही वसता है, देहमें तो वसेगा ही क्या ? प्रत्येक द्रव्य अपनी अखण्ड सत्ता वाला है। अतः आत्मा आत्मामे रह रहा है।

आत्माका प्रसर्पण देहमें है। इस आत्माको जैसा देह मिला कि वह उसी शरीरमें फैलगया। जव यह आत्मा हाथीके शरीरमें पहुंचता है, तो हाथीके आकार रूप परिणत हो जाता है। और जव वह पेड़में पहुंचता है, पेड़के पत्ती पत्तीमें, फूल-फूलमें परागमें, डालियोंमें प्रस्तुत हो जाता है। इतना सव कुछ होते हुए भी यह देहमे वसता नही है। निश्चयसे आत्मा आत्म-स्वरूपमें है। किसी द्रव्यका प्रदेश, गुण, पर्याय दूसरे द्रव्यमें नही पहुंचता है। आत्मा यद्यपि देहमें वस रहा है, फिर भी परम समाधिके विना आत्मा नजर नही आता है। देखो तो, लोग देहमे वसते हुए भी आत्माको नहीं जान पाते हैं। उसी आत्मा की यह चर्चा है कि आत्मामें रूप नहीं है, आत्मामें रस नहीं है।

### आत्मा गन्धरहित है:—

अव कहते हैं कि आत्मामें गन्ध भी नहीं है। आत्माको इन्हीं छः प्रकारोंसे अगन्ध सिद्ध किया जायेगा।

आत्मा गन्ध गुण नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे जुदा है। घ्राणेन्द्रिय को कोई नहीं जानता है कि किस जगहसे यह प्राणी गन्ध ग्रहण करता है, कैसे करता है—यह पता नहीं चल पाता है। क्योंकि घ्राणेन्द्रिय अव्यक्त है। आत्मा पुद्गल द्रव्यसे जुदा होनेसे गन्ध गुणवाला नहीं है, क्योंकि पुद्गल द्रव्यसे वाहर पुद्गलका गुण नहीं पहुंचता है। अतः आत्मा गंध भी नहीं है।

जो मनुष्य पंचेन्द्रियोंमें रत है, वह उनके विषयोंमें तन्मय हो जाता है। मनुष्यको कुछ सूंघते समय अपना पता नहीं रहता है उन्हें दुर्गन्ध आदिकी भी

खबर नही रहती है। इन्द्रियाँ पांच हैं। एक तो इन पांचों इन्द्रियों को नामकर्म ने मानों इतने अच्छे क्रमसे बनाई है कि उनको पहिचाननेमें देर नहीं लगती है और एकेन्द्रिय द्वेन्द्रिय त्रिन्द्रिय आदिकी व्यवस्था शीघ्र समझमें आ जाती है। एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय है यह सारे शरीरमें है। द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन व रसना ये दो इन्द्रिय हैं सो देखो गलेके ऊपर पहिले रसना (जिह्वा) इन्द्रिय मिलती है। त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन रसना व घ्राण ये तीन इन्द्रिय हैं सो देखो रसनाके ऊपर घ्राण (नाक) इन्द्रिय मिलती है। चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु ये चार इन्द्रिय होती हैं सो देखो घ्राण (नाक) के ऊपर चक्षुरिन्द्रिय (आंख), मिलती है। पञ्चेन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण (कान) ये पाँचों इन्द्रिय होती है सो देखो आंखसे ऊपर कान होते हैं। अब जरा पश्चादानुपूर्वीसे देखो तो प्रायः उत्तरोत्तर आसक्तिकी अधिकता मिलेगी जैसे—कानसे जो विषय होता है, उसके जाननेमें तेज आसक्ति नहीं होती है जितनी चक्षुइन्द्रियके विषय देखनेमें आसक्ति होती है। कोई आँखका मनोरम विषय देख रहो, यदि कोई तुम्हें आवाज लगाये तो जल्दी सुनाई नहीं देता है, देखनेसे जल्दी उपयोग नहीं हटता है। देखनेकी अपेक्षा सूंघनेका विषय अधिक आसक्तिजनक है। नाकके विषयकी अपेक्षा रसनेन्द्रियका विषय अधिक आसक्ति पैदा करता है। स्वादिष्ट पदार्थोंके चखनेमें विकल्प भी अधिक होते हैं। नाना प्रकारके अनाचार और झगड़े इस जीभके स्वादके लिये ही होते हैं। रसनेन्द्रियकी अपेक्षा स्पर्शन इन्द्रियके विषयोंमें अधिक आसक्ति होती है। यद्यपि व्यभिचार सुननेका, देखनेका, सूंघनेका, चखनेका और छूनेका सभी विषयरतिका नाम है, मैथुनको भी व्यभिचार कहते हैं, सब इन्द्रियोंके विषयोंका नाम व्यभिचार है, परन्तु मैथुनके अर्थमें व्यभिचार शब्द रूढ़ होगया है। क्योंकि सब इन्द्रियोंके विषयोंसे अधिक आसक्ति स्पर्शनेन्द्रियकी है।

इन इन्द्रियोंके बननेका क्रम कितनी बातोंको साबित करता। ये सब इन्द्रियां निमित्त नैमित्तिक भावसे बन जाती हैं, इन्हें कोई बनाता नहीं है। जो

पदार्थ बना-परिणमा उसकी विधिका नाम प्रकृति है। निमित्त पाकर स्वयं परिणम जानेका नाम प्रकृति है। ऐसा निमित्त पाकर ऐसा होता ही है, इसी का नाम प्रकृति है।

घ्राण (नासिका) पुद्गल द्रव्य है। उनका स्वामी आत्मा नहीं है। अतः आत्मा घ्राणेन्द्रियके द्वारा जानता नहीं है। ज्ञानका साधन ज्ञान ही है। निमित्तके द्वारा उपादान परिणमता नहीं है। जैसे आपने एक वीरकी फोटू देखी, उस फोटोको देखकर आपमें कुछ बात सी आई। आत्माके अभिप्रायके कारण वीरताका भाव आया। वीरत्वका भाव उत्पन्न होनेमें फोटो निमित्त है किन्तु भाव पुरुषका है। कर्म प्रकृतिके उदयमे आत्मामें क्रोध होता है। क्रोध कृतिनामक कर्मकी प्रकृतिने क्रोध उत्पन्न नहीं किया। यहां वह बात जरूर है कि क्रोध प्रकृतिके बिना आत्मा क्रोध नहीं कर सकता है।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्यायमें परिणमता है। निमित्त न हो तो विभाव कार्य नहीं बन सकता है। परन्तु उपादानमें कार्य उपादानके परिणमन से ही होता है। यह घ्राणेन्द्रिय पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे ही है। यह घ्राणेन्द्रिय रूप रस गंध स्पर्श रूप ही परिणम रही है। और कुछ नहीं कर रही है।

क्या पिता लड़केको पालता है ? नही पालता है। पिताको पुत्रसे राग था, स्नेह था उसने राग और स्नेह भावको खूब किया; रागभावके करने में जो कुछ होगया, सोहो गया परन्तु पिताने उसे पाला नहीं है, कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कुछ करता ही नहीं है। जैसे हम तुम्हें समझा रहे हैं ऐसा कोई देखे परन्तु तुम्हें हम नहीं समझा रहें हैं, तुम स्वयं समझ रहे हो। अपने सुनानेके रागको मिटानेके लिये हम अपने दुखको मिटा रहे हैं।

यह मनुष्य भव कोई मामूली तपस्यासे ही नहीं मिल गया है। इस मनुष्य भवको पानेके लिये इसका पूर्व जन्ममें विशेष पुरुषार्थ हुआ होगा। भैया ! इस चैतन्य पौरुष के जाने बिना आत्मा कैसी-कैसी विपत्तिमें फंसा। पेड़में तो देखो आत्माको कितने प्रदेशोमें जाना पड़ा जलको ही देख लो, बिना छना पानी खींचा और आगपर डाल दिया गया। वहां क्या आगपर

कोई बचा सकता है। क्या इस जलके जीव हम न थे, और आज किस स्थिति में हैं पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, सुन सकते हैं, देख सकते है, बोल सकते हैं। बड़े २ आचार्यों ने कठिन परिश्रम करके ग्रन्थ बनाए, वे सब तुम्हारे-हमारे लिए ही तो हैं परन्तु इस पुण्यकी कीमत हमारे समझमें कुछ नहीं है। इतना सौभाग्य मनुष्य बननेमें है। तुम्हारे पुण्यका उदय है। इस मनुष्य भवको पाकर वह वह काम करना चाहिए, जो अगले भवमें भी काम दे। अन्य वैभव तो यहीं रह जायगा मगर जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह एकदम खोजाने वाला नहीं है। ज्ञान मरनेपर भी साथ जायेगा जो हमारी योग्यता है, वह बनी रहेगी। यदि ज्ञान प्राप्त करनेमें सब कुछ भी गवा दिया जाये, समझो तुमने कुछ नहीं खोया। हम लाभ में ही रहेंगे, हानि कुछ भी नहीं हुई। इतने सुन्दर मनुष्य भवको पाकर ज्ञान वृद्धिमें नहीं लगाया तो मनुष्य भवमें जन्म लेना निरर्थक है। यहां पर-कर्तृत्वका भाव न लावो जिसके कम पुण्यका उदय है, उसको अधिक पुण्यशालियों की नौकरी करनी पड़ती है। दूसरोंके पुण्यका उदय है, यदि हम काम न करेंगे तो उनका पुण्य फलेगा कैसे ? परकर्तृत्वबुद्धिका फल है कि परकी नौकरीकरो। आत्माकी भलाई निर्विकल्प ज्ञानमें हमें अपनी निर्विकल्प समाधि बनानी है, ऐसी बात मनमें तो आनी चाहिए। यह शरीर जिसे आत्मा मानकर सब कुछ कर रहे हो, वह अपने बिल्कुल भिन्न है। यह शरीर एक दिन जला दिया जाना है। यह शरीर इतना अशुचि है उसी शरीरको आत्मा मानकर बेसुध हो रहे हो, उस शरीरका स्वामी आत्मा नहीं है।

आत्मा घ्राणेन्द्रियके द्वारा जानता नहीं है, घ्राण इन्द्रिय तो गन्धके ग्रहणमें निमित्त मात्र है अतः आत्मा गन्धरहित है।

आत्मा गन्धरहित है। आत्मा द्रव्येन्द्रिय, घ्राणेन्द्रियके द्वारा गंध जानता है, अतः आत्मा गंधवाला है, इसका खण्डन तो कर दिया, परन्तु आत्मा भावेन्द्रिय के द्वारा तो गन्ध जानता है। वर्तमान जो ज्ञान है, वही भावेन्द्रिय है, उस ज्ञानके द्वारा तो आत्मा गन्ध जानता है अतः आत्मा गन्धवान है। इसका उत्तर यह है कि भावेन्द्रिय होती है क्षायोपशमिकभाव, अतः स्वभावतः भावेन्द्रिय

के द्वारा आत्मा गन्ध ग्रहण नहीं करता है।

प्रश्नः—आत्मा गन्ध ग्रहण तो करता है, अतः इसका गन्धसे सम्बन्ध है, यह माननेमें आपको क्या आपत्ति है? उत्तरः—यह आत्मा केवल गन्धको ही तो नहीं जानता है, सभी पदार्थोंका ज्ञान करता है। जब आत्माका स्वभाव सम्पूर्ण विश्वको जाननेका है, तब फिर तो सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझ लेना चाहिये। गन्धका जो ज्ञान हुआ, आत्मा उसमें तो परिणत है। फिर भी क्योंकि ज्ञेय ज्ञायकका तादात्म्य नहीं हो सकता है अतः आत्माको गन्धवाला नहीं कह सकते हैं।

### आत्मा स्पर्श रहित है।

अब जिस प्रकार गन्धके बारेमें कहा उसी प्रकार स्पर्शके बारेमें कहते हैं।

आत्मा अव्यक्त है। स्पर्शनेन्द्रियके विषयमें ही व्यक्तकी बात आती हैं क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय ही व्यक्त है। जैसे इसी आंखको लो जो दीखता है, हाथसे छूने में आता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। उसमें जो देखनेका गुण है, वह चक्षु इन्द्रियका विषय है। यह जीभ जो दिखाई दे रही है, उसके छूनेसे ठण्डे, गर्म, कड़े नर्मका ज्ञान होता है। छूनेका विषय स्पर्शनेन्द्रियका विषय है। जीभमें फिर रसनेन्द्रियत्व कहां रहा जो जीभ दिखाई दे रही है, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। इसीमें स्वाद लेनेकी जो परिणति है, वही रसना इन्द्रिय है स्पर्शन इन्द्रियको व्यक्त इन्द्रिय माना है। रसना आदि इन्द्रियां दिखाई नहीं देती हैं, अतः वे सब इन्द्रियाँ अव्यक्त हैं। हम कानसे कहांसे सुनते हैं? जो पर्दा है, उसको छूनेसे भी कुछ न कुछ ज्ञान होता है, अतः वह कानका पर्दा भी स्पर्शनेन्द्रिय है। जिससे ठण्डे गर्मका ज्ञान हो, वह स्पर्शन इन्द्रिय है। जो स्पर्शसे बोध हुआ, वह तो स्पर्शन इन्द्रिय है। यह हमारी आंख, जो दिखाई दे रही है, उसके छूनेसे ठण्डा नर्म, गर्मका ज्ञान होता है, अतः यह आंख भी स्पर्शन इन्द्रिय है। सर्वत्र चारों इन्द्रियोंमें स्पर्शन इन्द्रिय भी हैं, फिर भी उनसे भिन्न भिन्न विषयका ज्ञान हो जाता है। प्रतिनियत विषयका ज्ञान मात्र करने वाली चारों इन्द्रियाँ अव्यक्त हैं।

ज्ञानीजन कहते है कि आत्मामें स्पर्श गुण नहीं है क्योंकि आत्मा पुद्गल द्रव्यसे भिन्न है। अतः आत्मामें स्पर्श गुण नहीं है। एक तो आत्मा स्पर्श गुण-वाला नहीं है दूसरे आत्मा स्वयं स्पर्श गुण भी नहीं है, क्योंकि आत्मा पुद्गलके गुणोंसे न्यारा है। पुद्गलके गुण रूप, रस, गन्ध स्पर्श हैं उनसे आत्मा अत्यन्त न्यारा है, अतः आत्मामें स्पर्श नहीं है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव है।

जिसे आप किरणें कहते है, वे क्या हैं ? सूर्य है ? नहीं। सूर्य तो इतना ही प्रकाशमान है जितना सूर्य प्रदेश है। सूर्यको निमित्त पाकर वे पास के स्कंध प्रकाशपरिणत हो जाते हैं। वे प्रकाशपरिणत स्कन्ध सूक्ष्म और स्थूल हैं। जब उन स्कन्धोंको देखते हैं, उन्हीं को किरणें कह देते हैं। सूर्यके प्रकाशकी वे प्रकाशपरिणत किरणें गवाक्ष जालसे दिखाई पड़ती हैं। प्रकाशपरिणत जो स्कन्ध हैं, उन्हींका नाम लहर है। उन्हींको किरणें कहते हैं।

किसी भी द्रव्यका गुण पर्याय प्रदेश द्रव्यसे बाहर नहीं पहुंचता है। जहां जो आपको चीज दिखाई देती है, वह वहीं की चीज है। एक वस्तुका क्या स्वरूप है ? वस्तु का वस्तुत्व क्या है। इसको यथार्थतः समझो तो पदार्थोंकी स्वतन्त्रता समझमें आजावेगी। यह सब निमित्त नैमितिक भावका ही व्यवहार चल रहा है। आत्मा स्पर्श गुण वाला नहीं है क्योंकि पुद्गल द्रव्यसे वह भिन्न है कहते है आत्मा स्वयं स्पर्श गुण भी नहीं हैं। तो न होओ, किन्तु आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा स्पर्शन करता है, अतः आत्मा स्पर्श गुण वाला मानलो। उत्तर:—नहीं, क्योंकि आत्मा द्रव्येन्द्रियका स्वामी ही नहीं। अतः द्रव्येन्द्रियका और आत्माका कोई सम्बन्ध नही है। जैसे दर्पण है। दर्पणके सामने जो भी चीज आयेगी. वह उसमे प्रतिबिम्बितहो ही जायेगी। यदि निमित्त हट जाये तो उसका प्रतिबिम्ब भी दर्पणमें नहीं पड़ेगा। ऐसा निमित्त नैमित्तिक भाव हो तथापि दर्पणमें जो बिम्ब है वह दर्पणकी परिणति हैं उसमें उसके निमित्तका कोई अंश नहीं गया। अब जिज्ञासु पूछता है कि द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा स्पर्श

नहीं करता है चलो, यह मान लिया, परन्तु भावेन्द्रियके द्वारा तो आत्मा स्पर्श ग्रहण करता है ? उत्तर हैं कि भावेन्द्रिय क्षायोपशमिक पदार्थ है, अतः आत्मा स्वभावतः भावेन्द्रियके द्वारा स्पर्श गुणको नहीं जानता है ।
शंका :— किसी भी तरह जानो आत्मा स्पर्श गुणको जानता तो है ? अतः आत्मा स्पर्श वाला होना चाहिये । समाधानः—कहते हैं कि आत्मा तो विश्वको जानता है विश्वको जाननेसे आत्मा विश्व वाला हो जाना चाहिये ? अतः आत्मा स्पर्शज्ञान तो करता है, परन्तु स्पर्श गुणवाला नहीं है । पुनः जिज्ञासु पूछता है कि आत्मा स्पर्शज्ञानमें परिणत है, उससे आत्मा तन्मय है अतः स्पर्शवाला आत्मा मान लिया जाना चाहिए । उत्तर स्पर्श ज्ञेय पदार्थ है, ज्ञायक आत्मा है । तथा ज्ञेय ज्ञायक पदार्थ कभी तन्मय नहीं हो सकता है । अतः आत्मा अस्पर्श है, अव्यक्त है । इस प्रकार आत्माको अरस अरुप, अगन्ध, अस्पर्श सिद्ध किया गया है । ज्ञेय और इन्द्रियोंके सम्बन्धमें सर्वत्र निमित्त नैमित्तिक भाव है । निमित्त नैमित्तकका इतना सम्बन्ध होता है कि पदार्थमें उसीके अनुसार परिणति हो जाती है ऐसा होनेपर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र ही है, स्वतन्त्र होकर ही परिणमते हैं ।

आत्माके लक्षण में अभी यह बताया गया था कि उसमें रूपादि पुद्गलके चार गुण नहीं हैं । जिस आत्मामें ये चारों गुण और उनके परिणमन नहीं है, उस सामान्य दर्शनज्ञानमय आत्माको समयसारमें शुद्ध आत्मा कहा है ।

यह अध्यात्म ज्ञान कलेवा (पाथेय) के समान है जिसकी दृष्टि करनेसे धर्म होता है, वह समझमें आ जाये तो जहां भी होओ, तनिक दृष्टि दो और धर्मका फल प्राप्त कर लो । ऐसी शुद्ध आत्माका इस समयसारमें वर्णन है वह शुद्ध आत्मतत्त्व प्रत्येक जीवमें है । पर्याय अशुद्ध है । जिस कालमें जो पर्याय है, वहाँ भी दृष्टिकी महिमासे शुद्ध आत्मतत्त्व को यह जीव देख ही लेता है । देखो भैया ! अशुद्धकी दृष्टिसे शुद्धि प्राप्त होती नहीं और पर शुद्धकी दृष्टिसे भी शुद्धि नहीं होती । इस निज शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे शुद्धि होती है ।

वह शुद्ध आत्मतत्त्व कैसा है, सो वतलाते हैं। यह अंगुली जैसे टेढी, सीधी आदि रूप १० तरहसे परिणाम गई, किन्तु वह एक अंगुली सभी रूपों में विद्यमान है। वहीं एक जिस ज्ञानके द्वारा तुम जान रहे हो, वह जानी हुई अंगुली शुद्ध कहलाती है। दशों तरहकी अंगुली वनी, उसमें जो एक रहे, उसे शुद्ध कहते हैं जो न टेड़ी है और न सीधी ही है।

शुद्ध आत्मतत्त्वका जब वर्णन करेंगे तो वह न नारकी है, न मनुष्य है, न देव है और न तिर्यञ्च ही है आदि किन्तु सर्व परद्रव्य व परभावोसे विविक्त निजचेतनमय आत्मा है। जितनी भी पर्याय है। वह शुद्ध आत्मा वह नहीं है ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्व है। जीव न मुक्त है। न संसारी है। कह रहे हैं उसी चैतन्य तत्त्व को जो न वहिरात्मा है, न अन्तरात्मा है और न ही परमात्मा है यद्यपि वह क्रमशः सभी पर्यायोमें रहता है। फिर भी वह इन सभी पर्यायोसे भिन्न है अत एव शुद्ध है।

जो लोग पाप करनेमें धर्म मानते हैं, उनकी वात भी अपेक्षासे ठीक है। जैनशास्त्रोंमें वतलाया गया है कि मिथ्यात्वके तीव्र उदयमें जीवको उल्टी उल्टी वात सूझा करती है। मिथ्यात्वमें उल्टा ही दिखाई देता है।

आत्मा न शिष्य है न गुरु है, न उत्तम है, न नीच है, न मनुष्य है न देव है न नारकी है और न तिर्यञ्च ही है— ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वको योगी जानता है। परिणमनमें शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं है। एक शुद्ध आत्मतत्त्व चैतन्यमात्र है।

आत्मा न पण्डित है, न मूर्ख है, आत्मा केवलज्ञानी नहीं है, मतिज्ञानी नहीं हैं। वह तो शुद्ध चैतन्य तत्त्व है। शुद्ध अग्नि वह है जो किसी आकार या पर्याय में वद्ध नहीं है। पर्याय, अपेक्षा, भेद, अंश इनका नाम ही अशुद्धताको लिये हुए है। शुद्ध अग्निका कोई आकार नहीं है। शुद्ध अग्निके सही अर्थमें कोई अपेक्षा न लगाओं, वही शुद्ध अग्नि है। सीधी अंगुली शुद्ध अंगुली नहीं है टेढी, सीधी, तिरछी आदि समस्त पर्यायों रहने वाली एक अंगूली शुद्ध अंगुली है। इसी प्रकार नरक तिर्यञ्च मनुष्य, देव सिद्ध पर्याय आदिमें जो आत्मा है, वह तो जाननेमें, आयेगा, परन्तु उन सब पर्यायोंमें से किसी

भी पर्यायमें न रहने वाला आत्मा न मिलेगा। द्रव्यका भी कोई निज स्वरूप है। द्रव्यके लक्षणमें पर्याय नही है।

मनुष्य वह है। जो बूढ़ा भी है, जवान भी है, बालक भी है—सभी अवस्थाओंमें जाकर भी उन पर्यायरूप नहीं है। वह आंखोंसे दिखाई नहीं देता है, उसे कहते हैं शुद्ध मनुष्य। उस शुद्ध तत्त्वपर उपयोग जानेसे संसारके समस्त विकल्प मिट जाते हैं। यदि वह अनुभवमें आ जाये तो कहना ही क्या वह शुद्ध आत्मतत्त्व जो न मनुष्य है, न देव है, सब अवस्थाओंमें जाकर भी किसी एक अवस्थारूप बनकर नही रहता है।

द्रव्यकी शक्ति अनादि अनंत है। रूपादिका नाश नहीं हो सकता है। रूप सदा रहता है। परन्तु उसमें परिणमन होता रहता है। आप शक्तिका स्वरूप सोच रहे हैं तो विकल्पमें पर्याय नहीं रहना चाहिए। ध्रुवपर दृष्टि डालोगे तो ध्रुव बनोगे और यदि अध्रुवपर दृष्टि डालोगे तो अध्रुव बनोगे। यदि यह श्रद्धा करो कि हम सामान्य आत्मा है तो आपके समस्त विकल्प छूट जायेंगे। जिनमें यह विश्वास बन गया है कि मैं उसका पिता हूँ उसको बच्चोंकी रक्षा करनी ही पड़ेगी। जिन्हें यह विश्वास है कि मैं अमुक हूं, उसको अनुसार उसे अपना काम करना पड़ता है। त्यागियोंको जल्दी गुस्सा इस लिये आता है कि उन्हें विश्वास बना रहता है कि मैं त्यागी हूँ, इतनी पौजीशनका हूँ, किन्तु सम्मान इतना मिलता नहीं। इस पर्यायबुद्धिके कारण गुस्सा आता है। पर्यायबुद्धि होनेके कारण पर्यायके मुताबिक काम करना ही पड़ता है। यदि काम उसके अनुसार न हो तो गुस्सा आ जाता है। सुबहका समय है सब घूमने जा रहे हैं। एक सेठ जी भी घूमनेके लिए निकले। सामनेसे एक किसान सेठजी को बिना नमस्कार किये निकल जाता है। यह देखकर सेठ जी को गुस्सा आ जाता है कषाय उत्पन्न होनेका मूल कारण पर्यायमें अहंकार बुद्धि है संसारमें सर्वत्र बस पर्यायबुद्धिका आदर हो रहा है। संसारके समस्त झगड़े, नटखट यह पर्याय बुद्धि ही कराती है। सर्व पापोंमें महान् पाप पर्यायबुद्धि ही है, क्योंकि पर्यायबुद्धिमें प्रगतिका अवसर ही नहीं मिल पाता।

जिस पर्यायकी दृष्टि करनेपर इतने एब लगते है। उस पर्यायको भुलाने

पर शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शन होते हैं। देखनेवालोंकी विशेपता है, देख सके तो देखले, न देख सके तो न देख पात्र। वास्तवमें देखा जाये तो शुद्ध चैतन्य स्वमाव ही धर्म है। इसका उपयोग वने रहना ही धर्म है, शील है और तप हैं।

जिस जीवको इतनी लगन हो गई कि मैं उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी निगाह से कमी भी अलग न होऊं, मेरा अधिक समय इसीं शुद्ध आत्म तत्त्वकी निगाह में लगे तो संसारके संग्रह अपने आप छूटते जाते हैं। शुद्ध तत्त्वकी सिद्धिके लिए साधुका वेश अपने आप हो जायेगा। आप देखते हैं कि जिनकी इतनी ऊंची वृति हैं, ऐसा महात्मा भोजनके लिए घर आये तो कितने लोग आहार न करायेंगे, कितने लोग उनकी भक्ति वैयावृत्ति नही करेंगे। भक्ति करना माने प्रतिग्रह। मुनि आदिके प्रति समय शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि वनी रहती है। मुनि आदिकी ये तपस्यायें शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिके लिए है। ये तपस्यायें उददण्डके लिए दण्ड देना है ऐसा उनका विचार है ताकि हमारी शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि वनी रहे। धर्मका लक्षण शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि है। भगवान की भक्ति तो योगीका ध्येय ही नहीं हैं। योगीका ध्येय शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि करना मात्र हैं। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें जो २ वाधांए होती है, वह उनसे छुटकारा पानेके लिए भगवानकी भक्ति करता हैं। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें जव वाधा आती है उसको दूर करनेका उपाय स्वाध्याय है, अध्ययन है, भक्ति है, पूजा है, तपस्या है। भगवानकी भक्तिके लिए वह मुनि नहीं वना है, वह मुनि वना निज रामकी उपासनाके लिए। रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः अर्थात् आत्मा। शुद्ध तत्त्व न रोगी है, न गरीव है, न धनी है न मनुष्य है न देव है न नारकी है न तिर्यंच है। चैतन्य मात्रमें शुद्ध तत्त्व वसता है। शुद्ध तत्त्व अनुभवकी चीज हैं। मिश्रीका अनुभव अनुभवसे ही होता है। तुम जितनी वात वोलोगे वह शुद्ध तत्त्व नही हैं। खालिस आत्माका नाम शुद्ध आत्मा है। शुद्ध आत्माका वर्णन किया गया, इसमें न रूप है, न स्पर्श हैं, न गंध है, न रस है और शव्द है।

**जीवका लक्षरण चैतन्य है:—**

आत्म-प्रकरण चल रहा है कि जीव कैसा है? जीव वह कहलाता है कि जिसमें जानने-देखनेकी ताकत हो। आत्मामें ही जानने-देखनेकी ताकत

है। शरीरमें जानने देखनेकी शक्ति नहीं है अतः आत्मा शरीरसे अलग है। जीव जो करता है वह उसका कर्म है। उसीके अनुसार यह फल भोगता है।

जीवका लक्षण चैतन्य है। चैतन्यका काम है, जानना-देखना। चैतन्य स्वभावकी अपेक्षा सब जीव समान हैं। जीवके कर्म और कषायका पर्दा लगा है। सब कहते हैं कि किसी तरह यह पर्दा हटे, परन्तु हटता नहीं है।

जीव दो प्रकारके होते हैं:—(१) कर्म सहित (संसारी) और (२) जिनके कर्म छूट गये हैं (मुक्त)। कर्मसहित जीव संसारी कहलाते हैं और कर्मसे छूटे हुए जीव मुक्त कहलाते है। जिन्हें कर्मोंसे छूटनेकी इच्छा है, उन्हें प्रथम, कर्मसे छूटे हुए सिद्ध भगवान्की और अरहन्त भगवान्की भक्ति करनी चाहिये। जिस तरह भगवान् सिद्धने परिग्रह छोड़ा, उसी प्रकार भगवान की भक्ति करनेसे परिग्रह छोड़नेका रास्ता मिलता है।

मुक्त जीव सिद्ध हैं। मुक्त जीव सब एक किस्मके हैं। जैसे खालिस दूध सब एक तरहका होता है, परन्तु जिसमें पानी मिला है, वह तो कई प्रकारका हो सकता है—एक छटांक पानी वाला, आधा पानी वाला आदि। दूधमें जिस दूधके अलावा कोई चीज नहीं है, वह खालिस दूध कहलाता है। वह तो एक-ही तरहका है। इसी प्रकार जो जीव कर्मसे मुक्त हैं, वे सब नाना भेदवाले हैं।

जो जीव कर्मसहित हैं वे दो प्रकारके हैं:—त्रस और स्थावर। जिनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है, वे स्थावर जीव हैं, ये जीव एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय होती है। वे सब त्रस जीव है। ये क्रमशः द्वीन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं। जिनके केवल एक ही इन्द्रिय है, ऐसे स्थावर जीवों के " भेद हैं:—पृथ्वी-कायिक, वायुकायिक, जलकायिक अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीव।

इनमेंसे वनस्पतिकायिक जीव दो तरहके होते हैं:—साधारण वनस्पति-कायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव। साधारण वनस्पतिकायिक जीव निगोदिया जीवोंको कहते हैं। हरी वनस्पति फूल, फल, पत्ते आदिको प्रत्येक वनस्पति जीव कहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंमें एक शरीर का स्वामी एक ही है। और साधारण वनस्पतिकायिक जीवोंमें एक शरीरके

ग्रामी अनन्तानन्त निगोदिया जीव हैं। साधारण वनस्पति आँखोंसे दिखाई नहीं देती है। प्रत्येक वनस्पति आंखोंसे दिखाई देती है।

बहुतसे लोग आलू-प्याज आदिको साधारण वनस्पति कहते हैं। परन्तु साधारण वनस्पति तो दिखाई नहीं देती है, प्रत्येक वनस्पति दिखनेमें आती है, अतः आलू आदि साधारण वनस्पतिकाय नहीं है।

प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं:—(१) साधारण सहित प्रत्येक और साधारण रहित प्रत्येक वनस्पति। साधारण सहित प्रत्येकमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, अतः इसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं, पालककी भाजी, आलू, रतालू, अरवी आदि ऐसी ही वनस्पतियां हैं। जिनके मोटे पत्ते होते हैं उनमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं। अप्रष्ठित प्रत्येकमें अनन्त निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। फिर भी इसमें असंख्यात प्रत्येक है। इन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। इसमें भिण्डी, लोकी, सैम, सेंगरे, आदि है। असंख्यात प्रत्येक होनेके कारण इन्हें लोग अष्टमी चौदसको नहीं खाते हैं?

अब त्रस जीवोंको कहते हैं। जिसके दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय व पांच इन्द्रिय होती है, उन्हें त्रस कहते हैं। जिन जीवोंके दो इन्द्रियां होती हैं, घ्राण नहीं होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय त्रस कहते हैं। जिनके घ्राण इन्द्रिय तो होती है, परन्तु चक्षु नहीं होती, उन्हें त्रीन्द्रिय त्रस कहते हैं। जिनके चक्षु इन्द्रिय होती है, कर्ण नहीं होती उन्हें चतुरिन्द्रिय त्रस कहते हैं और जिनके कर्णेन्द्रिय भी होती है, उन्हें पंचेन्द्रिय त्रस कहते हैं।

पंचेन्द्रिय दो प्रकारके जीव होते हैं एक मन वाले जो हिताहितका विवेक रखते हों, उन्हें संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहते हैं, और दूसरे जिनके मन नहीं होता और शिक्षा उपदेश भी ग्रहण न कर सकें, उन्हें असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं। असंज्ञी जीव तिर्यंच गतिमें ही होते हैं। यदि जीवके साथ कर्म न लगा हो तो सब ही जीव एकसे हो जायेंगे। किसीको क्रोध आता, खोटे भाव उत्पन्न हते यह सब कर्मके उदयके निमित्त कारणसे ही होता है। अतः सर्वप्रथम कर्मों का क्षय करना चाहिए किन्तु कर्मोंका क्षय कर्मदृष्टिसे नहीं होता। यह मनुष्य भव कर्मोंका क्षय करनेके लिए ही प्राप्त हुआ हैं। स्वभावदृष्टि–साधक भक्ति

पूजा, धर्म स्वाध्याय-ये सब कर्मक्षय करनेके लिये ही प्राप्त हुए हैं। सर्व कर्मोंका क्षय हो जायें तो शुद्ध चैतन्य भाव प्रकट होता है। धनसे भी बड़ी चीज धर्म है। धर्मका सम्बंध आत्मासे है, धनसे आत्मा का सम्बंध नहीं हैं। प्रत्येक दृष्टिसे धर्म करना श्रेष्ट है। बाह्य चीजें; जो भी मिलती हैं, वे हितकर चीजें नहीं हैं। परन्तु लोग बाह्य पदार्थोंकी ही इज्जत करते हैं।

ये जगतके नाना तरहके जीव हैं। इनको देखकर अनुभव करना चाहिए कि धर्म न करनेसे यह कीड़ा हुआ है, मकौड़ा हुआ है। धनसे भी बड़ी चीज धर्म है। जीवके नाना भेद देखो तो तुम्हारेमें ऐसी तर्कणा उत्पन होगी कि धर्म न करनेसे ही ऐसी गति होती है। कोढीको देखकर यह विचारो कि धर्म न करनेसे ये कोढ़ी हुए। इसी हेतु मनमें उनके प्रति दया आती है। दया इस लिए आती है कि कभी ऐसे हम न हो जायें। अतएव हम लोगोंको दुखियों की रक्षा करनी पड़ती है। धर्म न करनेसे ही ये संसारकी सारी बातें होती हैं। जीवकी सभी अवस्थाओंमें सदा चैतन्य स्वभाव रहता है। उस एक चैतन्य स्वभावकी दृष्टि हो जावे कि मैं एक चैतन्य सबसे न्यारा हूँ, ज्ञानमात्र हूं, मैं आत्मामें ही हूं इस प्रकार जितनी भी आत्माकी दृष्टि आवे उतना ही धर्म है। धर्म यही है कि चैतन्य स्वभावकी दृष्टि होवे। दुखियोंको देखकर चैतन्य स्वभावकी दृष्टि लगा लेनी चाहिए। धर्मसेवनके लिए ज्ञान बढ़ाना चाहिये। भगवानके स्वरूप निहारनेमें भी धर्म है। सामायिकमें अपना स्वभाव विचारो। पूजामें भगवानकी और निजस्वभावकी भक्ति की जाती है। अतः पूजा और भक्तिसे भी धर्म होता है। भैया भगवानकी भक्ति और आत्माका ध्यान करके अधिकसे अधिक विशुद्ध लाभ लो।

**विभक्त निज एकत्वको जाने विना शान्ति मार्ग न मिलेगा;—**

बहुत कुछ जानकर भी जिस एकके जाने विना आत्माके क्लेश नहीं मिटते, उस एकके स्वरूपका यहां वर्णन है।

जगतमें दुःख अनन्त है, जो पदार्थ अपने नहीं थे न होंगे, उनके सम्बन्धमें धारणा बनाना कि ये मेरे है। सर्व दुःखोंकी मूल यह धारणा हैं। दुःखको दूर करनेके लिए इस धारणाको बहुत कोशिश करके मिटाना चाहिए। जगत

के पदार्थ मेरे से भिन्न है, मगर भीतरसे विश्वास नहीं होता कि ये पदार्थ मेरे नहीं है। अन्तरमें यदि यह विश्वास जम जाये कि ये पदार्थ मेरे नहीं है तो सम्यग्ज्ञान हो जाये। सम्यग्ज्ञान यथार्थ ज्ञानको कहते हैं। पदार्थ जैसा हैं, उसमें वैसी श्रद्धा करना सो सम्यग्ज्ञान है। पदार्थ जैसा है यदि उसका वैसा ज्ञान कर लिया जाये तो पदार्थके शुद्ध स्वभावके ज्ञान करनेमें बहुत सहूलियत मिलती है।

पदार्थोंको सुगमतया जाननेके लिए प्रथम उनके भेद जानने पड़ेंगे। समस्त पदार्थ कितने है? संसारमें एक २ जितने हो सकते हैं उतने ही पदार्थ हैं एक उतना होता है जिसका दूसरा कोई खण्ड न हो सके। पदार्थ एक वह होता है जिसका दूसरा हिस्सा किसी भी हालतमें नहीं हो सकता हैं। मैं भी एक आत्मा हूं आप भी एक आत्मा है समस्त संसारके प्राणियोंका आत्मा एक लक्षण होकर भी अलग २ हैं, अंश नही, हो सकता है। तो क्या दिखाई देने वाले चौकी पुस्तक आदि पदार्थ एक हो सकते? नहीं, ये पदार्थ नही हैं। ये अनेक परमाणुओंका पुञ्ज है। क्योंकि जिस पदार्थका दूसरा हिस्सा हो जाता है, वह एक नहीं है। चौकी आदि पदार्थोंके तो अनेक हिस्से भी हो सकते हैं। चौकी पुस्तकका प्रत्येक सबसे छोटा हिस्सा एक एक स्वतंत्र द्रव्य है उसका नाम परमाणु है। इस प्रकार अनंत परमाणुओंका ढेर स्कन्ध कहलाता है। एक एक परमाणु वस्तु है। धर्म द्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है और एक एक करके असंख्यात काल द्रव्य हैं। एक एक परमाणु एक २ अलग द्रव्य है। इसका कारण यह है कि ये एक एक द्रव्य अपने ही परिणमन से परिणमते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्य क्षेत्र कालमें रहता है। अतः प्रत्येक द्रव्य न्यारा-न्यारा स्वतन्त्र है। मैं-आत्मा अपने निजके क्षेत्रमें फैला हुआ हूँ, मैं उतना ही हूँ, उससे बाहर नहीं हूं। आपके आत्मामें दुख-सुखका अनुभव जितने प्रदेशमें होता है, उससे बाहर नहीं होता है। प्रत्येक आत्मामें सुख दुःख उसीके आत्म प्रदेशोंमें चलता है, अपने आत्म प्रदेशोंसे बाहर नहीं जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी ही परिणतिसे परिणमता है।

यह मैं आत्मा अपने परिणमनसे परिणमता हूँ। यद्यपि जैसा विचार मैं करता हूँ, वैसा विचार आप भी कर सकते हैं। परन्तु आपका विचार स्वतंत्र विचार है। मेरा स्वतन्त्र है। प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणतिसे परिणमते हैं। आपकी कषाय आपमें उत्पन्न होती है, मेरी कषाय मेरेमें, प्रत्येक परमाणु अपनेमें ही परिणमता है। मैं अपनेमें परिणमता हूँ। यही कारण है कि सब पदार्थ अलग अलग हैं। यह द्रव्य आत्मा प्रत्येक अन्य द्रव्यसे अत्यन्त जुदा है। घरमें रहते हुए भी तुम्हारे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहिन तुम्हारेसे इतने जुदा हैं, जितने कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि अन्य जीव और आत्माओंकी अपेक्षा घरमें रहने वाले आत्माका तुमसे तनिक सम्बन्ध होगया हो, यह हो नहीं सकता। प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावमें रहता है यदि यह प्रतीति हो जाये, फिर मोह, राग द्वेषादि ठहर जायें यह हो नहीं सकता।

भेदविज्ञानी अपने आपमें इस प्रकार निर्णय कर लेता है कि मैं अपनी ही पर्यायोंमें वर्तता चला जा रहा हूं, कभी क्रोधी हुआ, कभी मानी हुआ, कभी मायावी हुआ नाना प्रकारके मुझमें उपद्रव चल रहे हैं। परिणमन चल रहे हैं। ये परिणमन आत्मामें चलते तो हैं, परन्तु ये परिणमत किसी सम्बन्धसे चलते होंगे ? क्योंकि ये तरंगे मुझमें नाना प्रकारकी होती हैं, अतः यह परिणमन निमित्तके होने पर होते हैं। अतः बारम्बार मेरेमें जो राग द्वेषादिरूप तरंगे उठती हैं, वे मैं नहीं हूं।

ज्ञानी विचार करता है कि जो पदार्थोंका ज्ञान होता रहता है, क्या वह मैं हूँ ? पदार्थोंका ज्ञान भी मैं नहीं हूँ। मैं पदार्थोंका स्वामी नहीं हूं। क्योंकि उनमें भी नानापन नजर आता है। शरीर, धन, मकान आदि मैं हूँ, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है। मैं तो चैतन गुणवाला अमूर्त आत्मा हूँ, जिसकी पर्यायें राग-द्वेष मोह आदि चलती हैं। यदि इस चेतनाको भी इसमें नाना गुण है, इस तरहसे तकते हैं तो इस तरहका चैतन्य, आत्मामें नहीं हूँ। मैं तो निर्विकल्प अद्वैत चैतन्य हूँ। जब यह ज्ञान होता है तब ये सब आपत्तियां दूर हो जाती हैं। मैं चैतन्य गुण हूँ। आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है। आत्माको इनसे रहित तो जाना, मगर कुछ सहित भी हैं ? कहते हैं, आत्मा

चैतन्य गुण सहित है। यह वाक्य भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेसे चेतना गुण अलग और आत्मा अलग प्रतीत होता है। आत्मा कैसा हैं, यदि हम यह समझना चाहते हैं तो भेदकी दृष्टिसे ही हम आत्माको वता पायेंगे। भेद किये विना आत्माको नहीं वताया जा सकता हैं। दूसरेको आत्मा समझाया जायेगा तो भेदपूर्वक ही समझाया जायेगा। अतः दूसरोंको समझानेके लिए हम कहते हैं कि जिसमें चैतन्य गुण है वह आत्मा है। जो अनुभवमें आ रहा है, वह आत्मा है। जिसे हम पुकारते हैं, वह परमात्मा है। इस झूठी शक्लका व्यवहार ऐसा व्यवहार वन गया है कि शरीरके साथमें रहकर अपने आपमें रहने को चित्त नहीं चाहता है। और जव इन शक्लोंमें रहनेकी ही इसको आदत हो गई तो इस आत्मको इतने द्वंद फंद करने ही पड़ते है। यदि आत्मा यह सोचे कि यदि मैं मनुष्य न होता तो मेरा इन लोगोंसे तो परिचय न होता। इतना ही सोचकर यदि इस समागमसे ही अपना मुख मोड़ लिया जावे और धर्म, ज्ञान करनेके लिए समय निकाल लिया जाये तो भी अच्छा है।

यदि मैं वचपनमें ही मर जाता तो मेरे लिये ये सव कुछ न होता। यदि ऐसा होगया होता तो मैं किस पर्यायमें होता, इस पर्यायसे परिचय तो न होता अब मैं हूं तो ऐसा मैं हूँ। मैं लोगोंके लिये नहीं हूं किसी आत्मसिद्धिके लिये हूं ऐसा समझकर वाहरी साधनोंमें रहकर भी धर्म किये जाओ। ज्ञान ध्यानमें विशेष उपयोग लगाया जाये तो अच्छा है। इस तरहके यत्नसे भी हमारा कल्याण पथ प्राप्त हो जायेगा। इस निर्विकल्प स्थितिको पाये विना आत्मशान्ति नहीं मिल सकती है। आत्माकी शान्तिका जो मार्ग है। उसके विपरीत पथपर मत चलो। विपरीत पथपर चलनेसे आत्म शान्ति नहीं मिल सकती है। वह मार्ग है रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रसे आत्मशान्ति मिल सकती है। आज शुद्ध तत्वको मानो आज ही फल मिलेगा और कल मानो कल फल मिलेगा।

**सच्चा जीवन उस क्षणसे है जिस क्षण धर्मधारण हो जावे।**

एक मुनि आहारके लिये गए। आहारोपरान्त वहूने पूछा कि महाराज आप इतने सवेरे क्यों आये? मुनिने कहा समयकी खवर न थी। मुनिने पूछा तुम्हारी उम्र कितने वर्षकी है। वहूने कहा मेरी उम्र अभी पाँच वर्षकी है। मुनिने पूछा तुम्हारी पतिकी कितने वर्षकी है? वहूने कहा अभी मेरे

पतिकी, उम्र पाँच माहकी ही है। सेठ जी को वहूकी मूर्खतापर गुस्सा आ रहा था। मुनिने पूछा तुम्हारे श्वसुरकी क्या उम्र है। वहूने कहा ससुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए। मुनिने पूछा वासी खाया जा रहा है या ताजा ? वहूने कहा अभी तो वासी ही खाया जा रहा है। मुनि तो चले गये। सेठ जी ने अब वहू जी को आड़े हाथी लिया कहने लगे कि पागल तो नहीं हो गई थी ? तू कैसी कैसी वातें कर रही थी ? वहूने कहा पागल मैं हूं या तुम—यह तो मुनि के पास चलकर ही पता चल सकता है। दोनोंके दोनों वहीं वनमें पहुंचे और सेठने कहा कि वहूने तुम्हारेसे जो यह पूछा था कि इतने सवेरे क्यों आये इसका क्या मतलव था ? मुनिने कहा इसका मतलव था कि तुम छोटी ही अवस्थामें क्यों मुनि हो गये हो ? मैंने तव कहा, समयकी खवर न थी। अर्थात् जाने कव मर जायें। अच्छा तो वहूने अपनी आयु पाँच सालकी क्यों वताई, सेठजीने पुनः मुनिसे पूछा। मुनिने कहा यह वहूजीसे ही पूछो। वहूने कहां, मेरी उम्र पाँच सालकी इसलिए है कि मेरी धर्ममें श्रद्धा पांच वर्ष से ही हुई है। पतिकी पांच माहसे हुई और आपको तो अभी तक धर्ममें श्रद्धा ही नहीं हुई है, अतः आपको कहा गया कि आप पैदा ही नहीं हुए। आयु तभी से गिनी जाती है जवसे धर्ममें श्रद्धा होती है। ससुरने कहा, अच्छा यह वताओ तुमने वासी कव खाया जो तुम मेरी वदनामी कराती हो कि अभी तो हम वासा ही खा रहे है। वहूने उत्तर दिया कि तुम अपने पहले पुन्यके उदयसे प्राप्त धनसे ही हमारा पेट पाल रहे हो, अभी तो तुम नया धर्म कर ही नहीं रहे हो सो यह वासी ही तो हुआ। भैया ? जिन्दगी तभीसे मानों जवसे धर्मपर विश्वास होता है। निर्विकल्प स्थितिमें ही आत्माकी सच्ची जिन्दगी है। धर्म माने स्वभावकी दृष्टि। स्वभावकी दृष्टि न होकर परकी दृष्टिको अधर्म कहते हैं। मैं धनी नहीं हूं, गरीव नहीं हूँ, मैं तो एक शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूं। परम शुद्ध निश्चयनयके स्वभावसे पाये हुए विश्वासके पश्चात् अनाकुलता रूप परिणमनमें ही आनन्द है। सव स्थितियोंमें आनन्दके मार्गसे च्युत नहीं होना चाहिए। मैं सव झगड़ोंमें पड़ रहा हूं, परन्तु इनमें आनन्द नहीं है इतना भी तो विश्वास रखो। चैतन्यकी प्रतीतिसे तो तत्त्वकी प्रतीति

हो सकती है। इसीके लिये यहाँ तक कि योगी वनकर शहर छोड़कर अपनी आत्मामें ज्ञानी रमण करते रहते हैं। आत्मरुचि हो तो तत्त्वकी प्रतीति हो सकती है। साधुका चिन्ह पिछी कमण्डलु नहीं है। अकेला साधु ही है। हां, वह पीछी कमण्डलु आदिके विना चल नहीं सकता है। मुनिको चलना आदि भी व्यवहारके काम करने पड़ते हैं। तव पीछी कमण्डलु आदिकी आवश्यकता पड़ती है। साधुका लक्षण स्वरूप विचारना है। साधु तो अपनी भीतरी दृष्टि से होता है। साधुका चिन्ह स्वभावदृष्टिकी स्थिरता है। श्रावकका चिन्ह स्वभावदृष्टिका कभी कभी होते रहना है। जव वह साधु वन जाता है तो उसके स्वभावमें प्रवृत्ति स्थिरता करनी पड़ती है। इस प्रकार स्वभाव-स्थिरतामें मुनिको मुक्तिका निर्बाध मार्ग मिल जाता है।

अव तक यह वात आई कि आत्मा चैतन्य गुणमय है। जैसे-अग्निमें गर्मी है—ऐसा नहीं कहना चाहिये। गर्मीमय ही अग्नि है—ऐसा कहना चाहिये। इसी प्रकार आत्मामें चैतन्य है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। इसमें भेद जाहिर होता है आत्मा चैतन्यमय है। इसके अतिरिक्त यह भी वात आई थी कि आत्मा शब्द पर्याय नहीं है न वह स्वयं शब्द है। न वह द्रव्येन्द्रियके द्वारा शब्दको जानता है और न भावेन्द्रियके द्वारा शब्दको जानता है। शब्दके ज्ञानमें तन्मय होकर भी आत्मा शब्दरहित है। आत्मा अशब्द, अरूप अस्पर्श, अगंध और अरस है।

आत्मा किसी चिन्हके द्वारा समझमें नहीं आता है और न इसका कोई संस्थान है, न आकार न प्रकार। आत्माका कोई आकार स्वयं नहीं होता है। निमित्तको पाकर आत्माके संस्थान स्वयं वन जाते हैं। जिस शरीरको यह प्राप्त करता है, उसके आकार रूप यह स्वयं वन जाता है। यह आत्माका आकार नहीं है, आत्माका आकार पुद्गलके निमित्तसे वना है। जैसे यह हाथ है। हाथके वीचमें जो पोल है, वहां आत्मा नहीं है। नाकके वीचमें जो पोल है वहाँ आत्मा नहीं हैं। जिस शरीरसे जीव मुक्त होता है, उस प्रमाणसे कम या अधिक घटने वढ़नेके कोई कारण न होनेसे यह आत्मा उसी प्रमाण मात्र है।

**यह टङ्कोत्कीर्ण स्वभावमय आत्मा है।**

आत्माको कोई वनाता नहीं है। आत्माकी उन्नति भी होती है, परन्तु

तव भी कोई नई चीज बनती नहीं है। आत्माका जो स्वभाव है, उस स्वभाव का नाम आत्मा है, उसीका नाम परमात्मा है। जैसे—

एक पत्थर है। उसमें कारीगरको बाहुबली स्वामीकी मूर्ति निकालनी है। कारीगर उस पत्थरके बीचमें उस मूर्तिको अभीसे देख रहा है, जो मूर्ति उसे उसमेंसे निकालनी है। वह मूर्ति हमें आंखोंसे नहीं देखनेमें आ रही, परन्तु वह मूर्ति उस पत्थरमें अभीसे विद्यमान है। जिस जगह वह मूर्ति है, कारीगर उस पत्थरमें उसी मूर्तिको देख रहा है। वह मूर्ति जो इस पत्थरमें से निकलनी है, उसे कारीगर नहीं बनाता है। उस पत्थरमें वह मूर्ति है, जिसे कुछ उपाय करके वह दुनियाको दिखा देगा। परन्तु उस मूर्तिके विकासका उपाय उस मूर्तिको ढकनेवाले अगल-वगलके पत्थर दूर कर दिये जायें तभी वह मूर्ति प्रगट हो जायेगी। उस मूर्तिमें नई चीज तो कोई डाली नहीं गई। बस, उस मूर्तिको टांकीसे निकाल डाला और सबके सामने प्रस्तुत कर दी। इसी प्रकार वह परमात्माका स्वरूप सबके अन्दर मौजूद हैं, जिसका विकास होनेपर आत्मा परमात्मा कहलाने लगता है। राग-द्वेष, मोह, कषायके परिणमन इस परमात्मके स्वभावको आच्छादित किये हुए हैं, अतः वह स्वभाव दिखता नहीं है। ज्ञानी जीव उस निर्मल स्वभावको कषाय रागादिके रहते हुए भी देख रहा है। जिस प्रकार कारीगर उस पत्थरमें से जो मूर्ति निकालेगा उसे अब भी देख रहा है। ज्ञानी जीव राग द्वेषसे मलिन आत्मामें भी उस निर्मल स्वभावके दर्शन कर रहा है। उस स्वभावके विकासका उपाय उस स्वभावको ढंकने वाले विषय कषाय आदिको दूर करना है। जैसे उस पत्थरमें से मूर्तिको प्रकट करने के लिए हथौड़ी, छैनी और कारीगर काम कर रहे हैं। उस उपायसे उस मूर्ति को ढाँकने वाले पत्थरोंको हटा देते हैं। परन्तु इस आत्म-स्वभावको ढकने वाले विषय कषायादिको ज्ञानके द्वारा यह आत्मा स्वयं प्रकट करलेता है।

आत्मासे राग-द्वेषको हटानेके लिए ज्ञान ही कारीगर है, ज्ञानकी छैनीसे तथा ज्ञानके प्रहारसे उस चैतन्य स्वभावको विकसित कर लिया जाता है। इस चैतन्य स्वभावको देखनेमें ज्ञानकी ही विशेषता है।

यह ज्ञान साधक कर्ता है और ज्ञानका ही वहाँ प्रयोग होता है। वह

स्वभाव टङ्कोत्कीर्णकी तरह आत्मामें अब भी मौजूद है। जिसे सम्यग्दृष्टि देखता है, ऐसा चैतन्यमात्र मैं हूं। आत्माका लक्षण चैतन्य है। जिसकी दृष्टिसे चैतन्य लक्षण गया उसकी दृष्टिसे आत्मा भी ओझल हो जायेगा।'

एक कथानक है। एक बुढ़िया थी। उसके रुलिया नामका एक लड़का था। बुढ़ियाने एक दिन रुलियाको बाजारसे साग भाजी लानेके लिये भेजा। बेटा बोला यदि माँ मैं रुल गया तो ? मांने उसके हाथमें एक धागा बांध दिया और कहा, जिसके हाथमें धागा बंधा होगा, उसे ही तू रुलिया समझना। रुलिया साग लेने बाजारमें चला गया भीड़में उसका धागा टूट गया। वह रोने लगा कि मां मैं रुल गया, रोता रोता घर पहुंचा। मांने बहुत समझाया कि तू रुलिया ही तो है। उसने कहा रुलियाके हाथमें तो डोरा बंधा है। मां समझ गई। मांने कहा बेटा तू सो जा, रुलिया मिल जायेगा। बेटा जब सो गया, मांने उसके हाथमें डोरा बांध दिया। रुलिया जब उठा, बड़ा प्रसन्न हुआ और मां से कहने लगा, माँ, रुलिया मिल गया।

जिनकी दृष्टिमें वह चैतन्य स्वरूप नहीं है, उनकी दृष्टिमें आत्मा रुल गया है। जिनकी दृष्टिमें चैतन्य स्वभावका ध्यान नहीं है, उनकी दृष्टिमें आत्मा भी नहीं है। अतः आत्मा चैतन्य स्वभावके द्वारा पहिचाना जाता है। एकान्तमें बैठकर मैं चैतन्य मात्र हूं, चैतन्यका क्या लक्षण है, यह भी रुचिमें आते रहना चाहिये। हम अनेक पदार्थोंको जानते हैं। जानकर मैं चैतन्य मात्र हूँ, प्रतिभासमात्र हूँ, अमूर्त हूँ, सबसे परे, सबसे ओझल हूँ। इस आत्माको कोई नहीं जानता है। "शुद्ध चिदस्मि"—मैं शुद्ध चैतन्य हूँ। इस भावनाको बार बार ले आओ तो उसे अनुभव होगा निराकुल स्थितिका और उस स्थितिमें अनुभव करेगा कि मैं चैतन्य मात्र हूँ। यह श्रद्धा बढ़ाओ कि मैं न त्यागी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न मुनि हूँ, और न ही पुरुष हूँ। किसी भी परिस्थितिमें आत्मत्वका विश्वास न करो तो धर्म हो जायेगा। धर्म पापोंसे बचनेका मार्ग है। जिसकाल चैतन्य स्वभावकी दृष्टि बन जायेगी, तभी धर्म होता है। जब चैतन्य स्वभावकी दृष्टि नहीं है तो उपवास, पूजादिसे पुण्य बंध तो हो जायेगा, परन्तु बंधनसे नहीं छूट सकते। उस चैतन्य स्वभावके जाननेमें एक-बड़ा उपयोग कर लो। एकके

आगे जितने विन्दु रखोगे, उसकी उतनोही कीमत वढ़ेगी। अतः पहले एकको जानलो, फिर पूजा, धर्म, व्रत उपवासादि क्रियाए करो तो वे कल्याणमें साधक होंगी। इस चैतन्य स्वभावको अति परिश्रमपूर्वक जानो। श्री अमृतचन्द जी सूरि कहते हैं कि एक उस चैतन्य शक्तिके सिवाय, वाकी जो कुछ है, क्रोध, मान माया लोभादि वे सव वाह्य हैं, पौद्गलिक है। वाह्य समागमको छोड़कर चेतना शक्तिमें अवगाहन तो करो।

जीवनका इतना लम्वा समय है। पर वास्तवमें देखा जाये तो समय कुछ भी नहीं है। वैसे समय है अनादि अनन्त। उस अपरिमित कालके सामनेमें ४०-५० साल क्या कीमत रखते हैं। ४०-५० वर्षके जीवनका कुछ भी मूल्य नहीं हैं, फिर भी इस थोड़ेसे जीवनमें अनेकों वर्ष विकल्पोंमें विताये, यदि एक घण्टा, आधा घण्टा, १५ मिनट, १ सैकन्ड भी विकल्प जालोंको छोड़कर इस निज स्वभावमें लगाये तो इस जीवका वड़ा कल्याण होगा।

हमें उस आत्म साधनाको पानेके लिये पूजा व्रत आदिमें काफी समय लगा ा पड़ता है, तव ही उस सैकण्डको पाते हैं। धन्य है वह समय जिस क्षण आत्मामें सत्य विश्राम होता है उस अनुभवके वाद जीवको यह अनुभव होता है कि मेरा एक भी मिनट निर्विकल्प चैतन्य स्वभावके अनुभव विना न गुजरे। यह जो शरीर पाया है, वड़ा घिनावना है। अनेक मलोंका पिण्ड यह शरीर है। मोहके उदयमें इतना गन्दा भी यह शरीर पापके उदयसे जीवको सुहाता है। यदि यह शरीर न होता, देवों आदिका दिव्य शरीर होता तव भी रमनेके लायक यह शरीर नहीं है। यह अशुचि शरीर मोहके उदयसे सुहावना लगता है। स्वरूप समझमें आये और इस शरीरसे मोह टले तो यह ज्ञान इस जीवको पापसे वचा देता है। विद्या पढ़ना भी पापोंसे वचा देता है। दान, पूजा, भक्ति, शील, आदिको करनेसे जीव पापसे वच जाता है। परन्तु संसारसंततिके छेदके लिए ज्ञानको अपनाना होगा। कहा भी है:—
धन, कन, कंचन, राजसुख सव ही सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसारमें, एक यथारथ ज्ञान। धनी लोग सव कुछ न्योछावर करके भी विवेकके विना ज्ञानको नहीं पा सकता है। चाहे कोई गरीव हो, चाहे अमीर हो, जिसके पास ज्ञान है, उसीके पास वैभव है। जैसा काम करोगे, वैसी ही गति मिलेगी। अतः

अनेक यत्न करके अपने आत्माको जानों। बस निर्विकल्प होकर बैठ जाओ, तभी उस चैतन्यमात्र आत्माको जान सकते हो।

**अहितकर विषयोंसे हटकर हितकर स्वभावकी उपासना करो:—**

ऐसे परमात्मस्वरूपको जिसका कि चैतन्य स्वरूपकी मुख्यतासे वर्णन किया गया है, हे भव्य जीवो ! ऐसे परमात्मस्वरूप आत्माको अपने आत्मामें धारण करो। चैतन्य स्वभावकी दृष्टि अपनेमें निरन्तर बनाये रहो, जब तक समस्त प्रकारके दुखोंसे दूर न हो जाओ। पूजा करते समय भी कहते हैं कि हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमें रहें, तुम्हारे चरणोंमें मेरा हृदय रहे। मैं तुम्हारी तब तक भक्ति करूं जब तक मोक्षकी प्राप्ति न हो जाये। यहाँ ज्ञान और भक्तिका मेल अथवा विवेक दिखाया गया है। उसने द्वैत भक्तिमें कह दिया कि मेरे चरण तुम्हारे हृदयमें रहे, जब तक निर्वाणप्राप्ति न हो। इसी प्रकार ज्ञानी कहता है कि कारण समयसारकी दृष्टि तब तक निरन्तर बनी रहे, जब तक आत्मानुभव न हो। सिवाय इस आत्माके मेरे कोई शरण नहीं है। यह महान् धोखा है कि कोई किसीको प्यारा लगता है। ऐसा जो मोह उठता है, यह महान् धोखा है। आत्माका शरण केवल एक आत्मा ही है। मैं श्रीमान हूँ, मैं धनी हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं अमुकका पिता हूँ, मैं अमुकका बन्धु हूँ ऐसा आत्मा शरण नहीं हैं, परन्तु किसी भी पर्याय रूप नहीं रहने वाला और समस्त पर्यायोंमें क्रमशः रहने वाला शक्तिमात्र मैं शरण हूँ। पर्यायबुद्धिसे समझा गया मैं आत्मा शरण नहीं हूँ। शरण है, परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे पहिचाना गया आत्मा। जिस चैतन्य शक्तिमें ही सर्वस्व सार निहित है, ऐसा मैं आत्मा शरण हूँ। यही चैतन्य शक्ति जीव है, इसके अतिरिक्त सब पौद्गलिक है। चैतन्यशक्तिरूपसे प्रतीत हुआ मैं जीव हूँ, इसके अतिरिक्त जीव नहीं है। निमित्त दृष्टिसे रागादि पौद्गलिक है। उपादान दृष्टिसे रागादि वैभाविक हैं।

रागादि मैं नहीं हूँ, मैं चैतन्यमात्र आत्मा हूँ। जो तरंगे होती हैं, वे मिट जाती हैं, मैं मिटनेवाला नहीं हूँ, अतः मैं कोई तरंग भी नहीं हूँ। पर्याय होती

हैं, और मिट जाती हैं, अतः मैं पर्याय या परिणमन भी नहीं हूं। चैतन्य शक्ति के अतिरिक्त जो भी भाव हैं, सब पौद्गलिक हैं।

पूज्य आचार्य श्री कुन्द कुन्द कहते हैं:—

**जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।**
**णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥**

जीवके न तो वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न संस्थान है और न संहनन है।

जीवके वर्ण नहीं है। रूप कहो, वर्ण, रंग, चाक्षुप कहो, एक ही बात है। ये दिखाई पड़ने वाले काले पीले नीले लाल सफेद रंग—ये सब रूपकी पर्याय कहलाते हैं। मगर ये रूप गुण नहीं है। रूप गुण वह है, जिसे हम इन शब्दोंमें कह सकते है कि जो एक वही अनेक पर्यायों रूप परिणमता है वह गुण है।

जैसे आमने हरा रंग छोड़कर पीला पाया जो रूप याने अभी हरा था, वह अब पीला हो गया। जिस एक तत्त्वके लिये 'जो वही' शब्द लगा है, उसे रूप गुण कहते है। जैसे किसी मनुष्यके बारेमें कहा जाये, जो मनुष्य अभी बालक था, वह अब जवान हो गया है। मनुष्य सामान्य घटता बढ़ता नहीं है, परन्तु उसकी अवस्थाओंमें घटाबढ़ी होती है। मनुष्यका परिवर्तन माने मनुष्यका अभाव। सो तो हुआ नहीं। मनुष्य सामान्य बदलता नहीं है, किन्तु वह सब अवस्थाओंमें रहता है। मनुष्य किसी एक अवस्थारूप नहीं रहता है। जैसे आम जब छोटा होता है काला होता है। जरा बड़ा होनेपर आमका रंग नीला पड़ जाता है। और बड़ा होनेपर आमका रंग हरा हो जाता है। थोड़ा पकनेपर पीला और पूर्ण पकनेपर आम लाल हो जाता है। आमके सड़ने पर आम सफेद भी हो जाता है। इस प्रकार आममें सभी रंग होते हैं। आममें ये रंग इस ढंगसे होते हैं, जिस क्रमसे आचार्योने इन पर्यायोंका वर्णन किया है। आममें रूप गुण वहीका वही है, परन्तु उसकी पर्यायें ऐसी होती जा रही हैं।

जो कुछ दीखता है, वह सब पर्याय है। इनके आधार भूत शक्तिका नाम रूप गुण है। आत्मामें न रूप गुण है, न रूप गुणकी पर्याय ही हैं। क्योंकि ये रूपादि गुण पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं। पुद्गलद्रव्यके परिणमन होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। मैं आत्मा निजकी अनुभूनि रूप हूँ। इस लिये जीवमें रूप नहीं है। जीवका वर्ण कुछ नहीं है। मेरेमें जव रूप गुण नहीं है, तो दुनिया मुझे जानती भी नहीं है। मेरा वह स्वभाव है, जिसे हम देखते है कि उन सबसे धुल मिल जाते हैं।

सामान्यमें एक व्यक्ति पकड़ा नहीं जा सकता। ऐसा मैं एक चैतन्य मात्र आत्मा हूँ। चैतन्य ही सर्वोच्च सम्पत्ति है। रुपया पैसा इनकी क्या कीमत है। रुपया पैसाके उपयोगमें आकर जीवको कुछ मिलना नहीं है।

मैं किसी भी दिन दुनियाकी तरफसे मर जाऊं सब झगड़ा मिट जाये। मैं मर नहीं सकता, मैं अमर हूँ, अविनाशी हूँ। दुनियाके विकल्पोंको छोड़कर निर्विकल्प स्थितिको प्राप्त हो जाऊं तो फिर संसारके झगड़ोसे छुटकारा मिल जाये। निर्विकल्प स्थिति सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। मेरे वर्ण नहीं है। यह वर्ण पुद्गलका गुण और पुद्गलकी पर्याय हैं। यह वर्ण जिस द्रव्यमें है, उससे वाहर नहीं जा सकता है। यह वर्ण शरीरसे आत्मामें नहीं पहुंच सकता है। मैं वर्ण नहीं हूँ।

इतना मोह शरीरसे जीवको है जिसका कोई ठिकाना ही नहीं। मोहियों का कैसा चित्त है कि ऐसे अशुचि शरीरपर पाउडर, लिपस्टिक आदि लगाकर क्या करना चाहती हैं। यदि यह स्वाँग अपने ही पतिको दिखाना है तो पति तो दो ही घण्टे घर पर रहता है। यदि यह सुन्दरता दूसरोंको दिखानेके लिये है तो फिर तुम्हारे हृदयमें कितनी शुद्धता रही, यह तो आपही स्वयं जानती होंगी। यह काम पाउडर लगाना, लिपस्टिक लगाना किसीको नहीं करना चाहिए यदि पुरुप यह श्रृङ्गार पसन्द करता है, वह विपयलोलुपी है। इस शरीरको संयममें लगाना चाहिये। शरीरमें उपयोग लगाना मोहकी वड़ी तीव्रताका द्योतक है। यह वर्ण है तो शरीरका है, आत्माका नहीं। शरीर मैं नहीं हूं। वर्ण मेरे नहीं पाया जाता।

गन्ध भी मेरे में नहीं पाई जाती है:—

लोग कहा करते हैं, दूर बैठो, आपमें बड़ी दुर्गंध आती है। अरे, आत्मा में गन्ध है कहां, जो आपको दुर्गन्ध आने लगी। गन्ध आती है तो शरीरसे आती है।

गन्ध दो प्रकारकी होती है सुगन्ध, दुर्गन्ध, ये दोनों गन्ध गुणकी पर्याय हैं। गन्ध गुण वह है, जो दुर्गन्ध और सुगन्धमें रहे। जैसे कहा करते हैं कि यह फूल अभी अच्छी गन्ध दे रहा था. अब इससे खराब गन्ध आने लगी। जो अच्छा बुरा लगता वह गन्ध गुण नहीं है. पर्याय है। मेरेमें गन्ध नहीं है। गन्ध शरीरकी वस्तु है, वह आत्मामें नहीं आ सकती है। वल्कि एक परमाणु का गन्ध गुण दूसरे परमाणुमें नहीं जाता है, फिर विजातीय आत्मामें कैसे पहुंच सकती है। सैंण्ट तेलमें डाल दिया, परन्तु सैंन्टकी खुशबू तेलमें नहीं पहुंचती है, सैंण्टकी खुशबू सैंण्टमें रहती है। सैंण्टको जो स्कन्ध हैं, वे तेलमें नहीं पहुंचते हैं। तेल अपनी गन्धसे गन्ध वाला है, सैंण्टकी गन्ध वाला नहीं वन सकता है। सैंण्टकी खुशबूसे तेलकी खुशबू तिरोहित हो गई हो यह भी हो सकता और सैंण्टको निमित्त पाकर तेल ने अपनी गंधका परिवर्तन कर लिया हो यह भी हो सकता। जैसे—जलमें लाल रंग डालनेसे जल लाल नहीं हुआ। आपको पानी लाल दीखता है। लाल रंगके निमित्तसे पानीने अपना रंग बदल दिया ? यह प्राय: नहीं होता पानी स्वच्छ ही है। इसी प्रकार पुत्रकी ऐसी कौनसी चीज आत्मामें आई, जिससे आप इतने आकृष्ट हो जाते हैं कि मेरा जो कुछ है सो पुत्र ही है। इस चैतन्य परिणमनमें परका उपयोग मत करो। वह घड़ी धन्य है, जब कि यह आत्मा अत्यन्त निर्विकल्प रहता है। उसी क्षणकी प्रतीक्षा करो कि जिस समय सब विकल्प छूट कर आत्मा आत्माका ही ध्यान करे। यह ध्यान ज्ञान मार्गको दिखाता है। ज्ञानकी स्थिरता इस अनुभवको उत्पन्न कर देती है। वह चैतन्य मात्र मेरेमें रहो। मेरेमें गन्ध नहीं है, गन्ध पुद्गल द्रव्यका परिणमन है।

वह अनुभूतिसे भिन्न है, मैं अनुभूतिमात्र हूं।

## रस भी मेरे नहीं हैं।

रस पांच प्रकारका हैः—खट्टा, मीठा, कडुआ, चर्परा, कपायला। मैं आत्मा अमूर्त हूँ। मैं इन पर्यायों रूप नहीं हूं, और इन पर्यायोंके स्रोत रूप रस गुण मैं नहीं हुं। पर्याय प्रवाह कहलाती है। मैं उस रस पर्यायरूप नहीं हूँ। शुद्ध चैतन्य ज्ञानकी भीतरकी गोष्ठीमें बैठा हुआ ज्ञानी जब ज्ञान मात्र स्वभावमें तन्मय होता है, उसे दुनिया नहीं जानती है, मगर परम आनंदमय है। जिससे तीव्र राग हो, उस चीजका त्याग कर देना सबसे बड़ा बलिदान है। बलिदानके बिना कुछ नहीं होता है। आत्माकी स्वतंत्रताके लिये जो कुछ हमें रुचता, उसका त्याग करना चाहिये। आपसे मुझे कुछ मिलना है नहीं मुझसे आपको कुछ मिलना है नहीं, क्योंकि एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यमें नहीं जाते हैं। आपको कुछ कुटुम्बसे भी नहीं मिलता है, फिर तुम क्यों मोह करते हो। जिसके घरमें निधि गढ़ी हो, जब तक उसे पता नहीं है तब तक वह गरीब है। इसी प्रकार स्वभाव यही है, स्वभाव मिटानेसे नहीं मिटता है, परन्तु जिन्हें स्वभावकी खबर नहीं है, स्वभाव उनसे अत्यन्त दूर है।

हे अरहन्त ! आपके दर्शन मुझमें ही मिलेंगे। हे सिद्ध देव तुम्हारे दर्शन भी मुझमें ही मिलेंगे। मेरेसे बाहर तुम्हारे दर्शन नहीं मिल सकते हैं। जब मेरा भगवान और अरहंत सिद्ध भगवान एक आसन पर विराजे, लो दर्शन हो गये। मैं चैतन्य हूँ। ऐसा यह चैतन्य मात्र आत्मा मैं आत्मा हूँ। मेरेमें कोई रस नहीं हैं, मैं रससे रहित हूँ। रस पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं। रस अनुभूतिसे भिन्न हैं, मैं अनुभूति मात्र हूँ। अतः मैं रससे भिन्न हूं।

## जीवके रूप, रस, गन्ध नहीं है।

जीवके स्पर्श भी नहीं है स्पर्श जीवकी कोई चीज नहीं हैं। स्पर्शकी आठ पर्याय हैं—ठण्डा गर्म, रूखा चिकना, कड़ा-नर्म और हल्का भारी। यहां पर प्रश्न हो सकता है कि पदार्थमें एक गुणकी एक पर्याय रहती है, फिर स्कन्धमें स्पर्श गुणकी चार पर्यायें (ठण्डा या गर्म, रूखा या चिकना, कड़ा या नर्म और हल्का या भारी) कैसे आगईं ?

उत्तरः—नर्म-कठोर और हल्का-भारी-ये खास पर्यायें नहीं है, किन्तु यह हमारी कल्पना है। अथवा ये स्कन्धमें होते हैं। यदि पुद्गलकी पर्याय है तो अणुनें भी होना चाहिए। परन्तु परमाणुमें दो पर्याय होती हैं-ठण्डा या गर्म और रूखा या चिकना। वास्तविक बात यह है कि परमाणुमें स्पर्श एक नहीं है और भेद करो तो उसका कोई नाम नहीं है। उसे स्पर्श इसलिए कहते हैं कि वह भी स्पर्शन इन्द्रियसे जाना जाता है यह भी स्पर्शन इन्द्रियसे जाना जाता है पुद्गलमें ऐसे ये दो गुण हैं जिनमें एकका तो स्निग्ध या रूक्ष परिणमनमें से एक समय एक होता और दूसरे गुणका शीत उष्णमें से शीत या उष्ण इनमेंसे एक समयमें कोई एक परिणमन होता। परन्तु उन दोनों गुणोंकि उक्त विकास जाने जाते हैं। स्पर्शन इन्द्रियके निमित्तसे इसमें स्पर्शकी ४ पर्यायें कहीं गई है। जैसे आत्मामें दो गुण हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, किन्तु दोनों चेतनेका का ही काम करते हैं, चेतनाके विकास है इससे एक चेतनामें दोनों गर्भित हैं। इसी तरह स्पर्श गुणमें वे दोनों शक्ति गर्भित है। आत्मामें कोई प्रकारका स्पर्श नहीं है।

आत्मा वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध नहीं है। अर्थात् आत्मामें मूर्तिकपना ही नहीं है। आत्माका सबको ज्ञान है। जिसमें दुख होता है, कल्पना होती है, वही आत्मा है। आत्मा अत्यन्त समीप है, फिर भी नहीं जाना जाता है, इसमें मोह ही कारण है। मोहियों को तो यह हालत है कि विद्यते बालकः कक्षे नगरे भवति घोषणा।

जिन जीवोंने ऐसा विश्वास कर लिया कि यह चैतन्य सद्भूत वस्तु मैं हूं, यह मैं सब पदार्थोंसे जुदा हूं। वे जीव निर्मोह हो जाते हैं, जिन्हें अपनी स्वतंत्र सत्ताका बोध हो जाता है, जो जीव सम्यग्ज्ञानी हैं, स्वतंत्र सत्ताका जिन्हें विश्वास है उनके मनमें तो विषादका रंच भी नहीं आ पाता। एक कथानक है-

एक निर्मोह नामका राजा था। उसका पुत्र जंगलमें चला जा रहा था। प्यास लगी, पानी पीनेके लिये कुटीमें गया। कुटीके अन्दर बैठे हुए साधु पूछते हैं:—तुम कौन हो, किसके पुत्र हो? राजपुत्रने कहा:—मैं राजकुमार हूं, और मेरे पिताका नाम राजा निर्मोह है। साधुने 'निर्मोह' सुनकर कहा, क्या

तुम्हारे पिता निर्मोह है। राजपुत्रने 'हां' कहा। साधु बोला–अच्छा मैं परीक्षा लेकर देखता हूँ कि तेरा राजा कैसा निर्मोह है? जो निर्मोह है, वह राज्य ही क्या कर सकता है? मैं जब तक न लौटूं कृपा करके इसी कुटीमें विराजमान रहिये। राजगृहपर साधु गया। सबसे पहले उसे द्वारपर दासी मिली और कहने लगा:—

तू सुन चेरी स्वामिकी बात सुनाऊं तोय,
कुंवर विनाश्यो सिंहने आसन पड़यो है मोहि।

हे चेरी! सुन, राजाके कुंवरको शेरने मार दिया है, वह खूनसे लथ-पथ जंगलमें पड़ा है। यह सुनकर निर्मोह-चेरी कहती है कि:—

न मैं चेरी स्वामकी न कोई मेरा स्वाम,
प्रारब्धका मेल यह सुनो ऋषी अभिराम॥

मैं किसीकी चेरी नहीं हूँ और मेरा कोई स्वामी भी नहीं है। यह सब भाग्यवश होता है। चेरीका उत्तर सुनकर साधु बड़ा प्रभावित हुआ। अब साधु पुत्रवधूके पास जाकर कहता है कि:—

तू सुन चातुर सुन्दरी अवला यौवनवान।
देवीवाहन दल मल्यौ तुम्हरों श्री भगवान॥

हे सुन्दरी! देवीवाहन (शेर) ने तुम्हारे पतिको खालिया। तब वहू जवाब देती है—

तपिया पूरब जन्मकी क्या जानत हैं लोग।
मिले कर्मवश आन हम अब विधि कीन वियोग॥

कि क्या जाने हमने पूर्वमें क्या किया। हम सब कर्मके उदयसे आकर मिल गये थे। अब कर्मके उदयसे वियोग हो गया है। यह सुनकर साधु और अधिक आश्चर्यमें पड़ गया। जिज्ञासा पूर्वक और आगे बढ़ा और राजमातासे कहता है कि:—

रानी तुमको विपति अति सुत खायो मृगराज।
हमने भोजन न कियो तिसी मृतकके काज॥

कि तेरे लड़केको सिंहने खालिया है और मैं बिना भोजन किये चला आया हूं, क्योंकि तुम्हें यह समाचार सुनाना था। अब राजमाता कहती है कि—

एक वृक्ष डाली घनी पंछी बैठे आय।
यह पाटी पीरी भई चहु दिश उड़ उड़ जाय॥

जैसे एक वृक्ष है, उसकी शाखाओं पर दूर दूरसे पक्षी आकर बैठते हैं। पौ फटनेपर सब अपने वाञ्छित स्थानको उड़ जाते हैं। इसी प्रकार एक कुटुम्बमें सब आकर मिल जाते हैं आयु पर्ण होनेपर सब अपने कर्मोदयके अनुसार गतिको प्राप्त कर लेते हैं। यह उत्तर सुनकर साधुमें भी कुछ निर्मोहता का संचार हुआ। जिज्ञासा पूर्वक वह आगे बढ़ता है और राजाके पास जाकर कहता है:—

राजा मुखते राम कहु पल पल जात घड़ी।
सुत खायो मृगराजने मेरे पास खड़ी॥

हे राजन्! अब अपने मुंहसे 'राम' कहो। तेरे पुत्रको सिंहने खालिया है। राजा बड़े निर्ममत्व पूर्वक उत्तर देता है।

तपिया तप क्यों छांड़ियों इहां पलग नहिं सोग।
वासा जगत सरायका सभी मुसाफिर लोग।'

हे तपस्विन्! तू अपनी तपस्याको छोड़कर यहां भागता फिरा, यहां तो रंच भी शोक नहीं है। इस प्रकार परीक्षा लेनेके लिये आया हुआ कुटियाका साधु स्वय राजाके रंगमें रंग कर चला गया।

भैया! यह सर्व समागम ऐसा ही है। यहां न तो यह समागम साथ रहना है और न यह इन्छुक ऐसा रहेगा।

एक सेठने एक बड़ा मकान बनवाया। जब उद्घाटनके समय मकान देखने के लिये लोग आये उनसे उसने कहा यदि इस मकानमें कोई कमी हो तो कहो। सभीने बड़ी प्रशंसाकी। किन्तु एक व्यक्ति बोला—एक तो इसमें यह गलती है कि यह मकान सदा नहीं रहेगा। दूसरे इस मकानका बनवाने वाला भी सदा नहीं रहेगा। इसमें इन्जीनियर क्या सुधारे? यह तो जगतका परिणमन हैं, इन गलतियोंको कोई सुधार नहीं सकता है। जैन सिद्धान्तका इस तरहका भेद

विज्ञान और पदार्थका स्वरूप जो युक्तिसे भी उतरे, कहीं नहीं है। भगवान्‌ने ऐसा कहा है, अतः मान लो ऐसा नहीं है। यदि किसी देशमें कोई पक्ष न हो और उस जगह पदार्थके उस स्वरूपका वर्णन किया जाये तो जो यह चाहते हैं, "ग्रन्थमें लिखा है अतः हम नहीं मानते, आचार्योंने ऐसा कहा है अतः हम नहीं मानते"—ऐसे दिमाग वाले व्यक्ति भी द्रव्य-स्वरूपको समझकर माननेके लिए तैयार हो जायेंगे। यह द्रव्यस्वरूप ऐसा है,युक्तिसे सिद्ध कर लो, तुम्हारे दिमागमें उतरे तो मानो। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने यही तो बात ग्रन्थके प्रारम्भमें कही है। आत्म वस्तु क्या है ? तुम्हें इस चीजको युक्ति व वैभवके साथ बताऊंगा, परन्तु हमारी जोरावरीसे मत मानना। प्रत्येक वस्तु अपने ही परिणमनसे परिणमती है। यदि हम कहें कि ऐसे लोग ऐसे बन जायें, इसीमें मेरा भला है यह तो मिथ्यात्व है। दूसरे सचमुचमें करना है और जीवों पर दया, तो वह जीव कहेगा, समझायेगा और कोई विषाद नहीं करेगा। तुम्हारी समझमे आये मानना न समझमें आये न मानना। जो मैं कह रहा हूं, सो ठीक है यह भी मैं नहीं कहता। मगर जो बात ठीक है, यदि वह बात तुम्हारे चित्तमें बैठ जाये तो अच्छा है। यदि मैं तुम्हें समझानेमें चूक जाऊं तो आगे समझनेकी कोशिश करना। उचित शब्दरचना न बन पाई हो तो इसमें सिद्धान्तका दोष नहीं है। जिस ज्ञानसे निर्मोहिता बनती है, इसीमें सारा सुख है। अतः प्रयत्न करके यही कोशिश करना कि मोह न हो। जैसे—यह तुम्हारा लड़का खड़ा है, यह तुम्हारेसे अत्यन्त जुदा है यह बात श्रद्धामें ही आजाये, बहुत बड़ी बात है।

देखो भैया ! पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से भैया आजकल साक्षात् मोक्ष तो है नहीं, इसलिये मोक्षके एवजमें एक नई बात बतादें, वह अनेकों को बड़ी प्रिय लगेगी। वह है नींद। सो देखो ये चार काम है और २४ घन्टेके भाग चार करो तो ६-६ घन्टे हुए। अब धर्म-अर्थ-काम और नींद–इन चार पुरुषार्थोंके लिये बराबरका समय दो। छह-छह घण्टा तक प्रत्येक कार्य करो। पहले छह घण्टा धर्म, दूसरे छह घण्टा अर्थ, तीसरे छह घण्टा घरके देशके, सम्बन्धियोंके काम तथा चौथे छह घण्टा (रात्रिके १० बजे से ४ बजे तक) नींद यह तुम्हारी दिनचर्या उत्तम रहेगी। यह जिंदगी रहेगी

नहीं मिट जायेगी । यह शरीर किरायेका टट्टू है, इसे संयममें लगाओ ।

**आत्मा के रूप नहीं है :—**

रूप माने भौतिकता या मूर्तिकता है, यहाँ रूपका अर्थ रंग नहीं है। आत्मामें मूर्तिकपना नहीं है। क्योंकि जो मूर्तिक होता है, वह पुद्गल है। पुद्गलसे आत्मा भिन्न है। आत्मामें रूप नहीं है। शरीर भी आत्माके नहीं है। शीर्यते इति शरीरम्-जो बरबाद हो जाये उसे शरीर कहते हैं। उर्दू में शरीर माने शरारती है। जब भीतरसे राग मोह उठता है, तो लगता है शरीर बहुत अच्छा है। सारे शरीरमें मुख सबसे अच्छा लगता है, परन्तु शरीरके मुखभाग से जितना मैल बहता, उतना कहीं से नहीं बहता। उस मैलको निकालनेके लिये दरवाजे भी बने हैं। आस्य माने जिससे लार बहे। लपन- जो लप २ करे यह पूराका पूरा शरीर अशुचि है। बढ़ियासे बढ़िया भोजन करनेके एक घन्टे बाद ही मल वायु निकलने लगता है। शरीरका चाहे जितना पोषण करो वह शरारत ही करता है। एक दिन वह आने ही वाला है कि जिस दिन शरीर छोड़ कर चले जाना है। यह शरीर यहीं पड़ा रह जायेगा, और आत्मा निकलकर चला जायेगा। जैसे औरों के शरीर जले, वैसे ही यह भी जलाया जायेगा। बिना जानेमें ही इतनी आयु तो बीत गई, शेष भी हाथ पर हाथ धरे हुए छोड़कर निकल जाने है। हे आत्मन् ! अपना भी कुछ देखना है या परके विकल्पमें यों ही समय गंवाना है। देख एक परका अणु भी काममें नहीं आता है।

कहते हैं कि दौलतके दो लात होती है। जिस समय वह आती है, पहली लात वह छातीमें मारती है, जिसके कारण दौलत वालेको अहंकार हो जाता है। छाती तन जाती है दूसरी लात जब वह जाती है तब कमरमें जमाकर जाती है। जिसके कारण दूसरोंके सामने नम जाना पड़ता है। इस दौलतकी मुहब्बतका फल कटु होता है।

एक सेठजी थे। उन्हें धनसे मुहब्बत थी, लड़कोंपर वे तनिक भी विश्वास नहीं करते थे। उन्हें चाबी भी न देते थे लड़के बहुत समझाते, पर वह न मानता जब यमराज छातीपर चढ़ आ बैठा, तब सेठको सुध आई और लड़कोंको

बुला कर कहता है बच्चो, लो चावी। लड़के कहते है-पिताजी, चावी अब हमें नहीं चाहिए, साथ लेते जाइये। दुनियांमें कुछ भी करलो मरनेके समय किसीकी नहीं चलती है। मरनेके बाद कोई वस्त कामर्में नहीं आती है। 'जीवका शरीर नहीं है:—यह शरीर, जिसके कारण दुनियाँ भरसे मोह करना पड़ता है—यह शरीर मेरा नहीं है। इस शरीरसे आत्मा इतना अलग है जैसे दूधसे पानी। दूध दूधमें है, पानी पानीमें है। गर्म करके रखदो दूध अलग रह जायेगा। पानी जल जायगा। शरीरमें आत्माका वास है, परन्तु शरीर शरीरमें है और आत्मा आत्मामें है। आयुक्षय होनेपर आत्मा शरीरका साथ छोड़कर निकल जाता है। इसी शरीरके मोहके कारण धनसे मोह होता है और अन्य जीवोंसे मोह होता। मोहसे ही अन्याय-न्यायका ख्याल नहीं रखा जाता है। कब तक चलेगी यह मायाचारिता, पोल तो एक दिन खुल ही जानी है।

एक ग्वालिन थी। वह पाँच सेर दूध घरसे लेकर चलती और रास्तेमें नदी का उसमें पांच सेर पानी मिलाकर बाजारमें दूध-बन्धनोपर दूध बेच आती। महीनेके अन्तमें उसे दूधके पैसे मिले। पैसे गठरीमें बांधकर चली। रास्तेमें वही नदी पड़ी, इच्छा हुई नहा लिया जाये। गठरी किनारेपर रखी, कपड़े उतारे और नहाने लगी। उस गठरीको एक बन्दर लेकर पेड़पर चढ़ गया उसके ऊपर उसने बहुत पत्थर फेंके, किन्तु बन्दरने गठरी न छोड़ी। कुछ देर बाद बन्दरने पोटली खोली और डालपर रखली। उसमेंसे एक रुपया लेता नदीमें फेंक देता और दूसरा सड़कपर। इस प्रकार बन्दर खेल करने लगा। ग्वालिन यह देखकर कहती है कि हाय पानीका रुपया पानीमें गया और दूधका रुपया सड़कपर पड़ा, मिल गया।

ये बाह्य पदार्थ है इनकी रखवाली करने वाला कौन है? जगत् में कोई सहाय्य नहीं है, अपनी दृष्टि ही सहाय्य है। कुछ तो जगत्के फंदमें फंस कर मालूम भी पड़ गया, कुछ और मालूम पड़ जायगा। वस्तु स्वरूपका ज्ञान ही मेरे लिये सहाय्य है। यह शरीर जीवका कुछ नहीं है। शरीर कैसे बना, किसने बनाया, इस सम्बन्धमें निमित्त नैमित्तिक भावका प्राकृतिक नियम है। लोग कहते हैं कि यह चीज प्रकृतिसे उत्पन्न हुई परन्तु क्या प्रकृति किसी को

दीखती है ? सांख्योंमें तो प्रकृति शब्द ही निश्चित है। और वे प्रकृति शब्द का कुछ अर्थ भी अनिश्चितरूपमें मानते हैं। पुरुष (आत्मा) में होने वाले मोह को वताया कि यह प्रकृतिसे होता है प्रकृतिसे एक महान् उत्पन्न होता है, सीधे शब्दोंमें वह 'ज्ञान' है। ज्ञानको भी वे पुरुषसे उत्पन्न नहीं मानते। पुरुषको चैतन्य स्वरूप जरूर मानते हैं। जो मूल आचार्य हुए, उन्होंने कोई भी धर्म वईमानी से नही चलाया है। जाननेके लिये अनेक दृष्टियां लगानी पड़ती है। वस यह सव दृष्टि लगाने में भूल है। इसी कारण सिद्धान्तमें भी भूल होगई है।

आत्मामें प्रकृतिसे समझ उत्पन्न हुई और समझसे अहंकार उत्पन्न हुआ और अहंकारसे पाँच इन्द्रियाँ–द्रव्येन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां, शरीर के अवयव उत्पन्न हुए। इन्द्रियोसे पांच भूत उत्पन्न हुए। वे मानते हैं कि गंध पृथ्वी की चीज है। अग्नि नेत्र की चीज है। शब्द का सम्वन्ध आकाशसे है। जलका सम्वन्ध रसनासे और स्पर्श का सम्वन्ध वायु से है। वे कहते हैं, यह सब प्रकृति की ही देन है। स्वभावसे जो चीज उत्पन्न होती है, वह दुनियां को नहीं दीखती है।

अव प्रकृति क्या है इसे देखें :—

जैसे एक दर्पण है। उसके सामने कोई रंग विरंगी चीज रख दी। रंग विरंगी चीजसे उसकी कोई चीज नहीं निकल रही है। रंगविरंगे कागजकी चीज कागजमें ही है। अव दर्पणको देखो दर्पणमें रंगविरंगे कागजका परिणमन दीख रहा है। दर्पणमें जो फोटो उत्पन्न हुआ, वह प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ। वह प्रकृति क्या कागजकी प्रकृतिसे उत्पन्न हुई ? नहीं, क्या वह दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुई ?नहीं। यदि वह कागज और दर्पणकी प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ होता तो दोनोंमें एक ही वात होनी चाहिए थी। इसी तरह न केवल दर्पणके स्वभावसे वह उत्पन्न हुआ।

वास्तवमें निमित्त नैमित्तिक सम्वन्धका नाम प्रकृति है। ऐसी योग्यता वाला दर्पण हो और रंगबिरंगे कागजकी अभिमुखतका निमित्त मिले, दर्पण इस रूप परिणाम जाता है—इसका कारण निमित्त नैमित्तिक सम्न्वध है। दर्पणका

ही ऐसा स्वभाव है कि दर्पण ऐसे पदार्थ को अभिमुख पाये, इस रूप परिणम जाता है इसका नाम प्रकृति है।

· निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धपूर्वक जो कार्य होता है, उसे समझ लेना। ..ग्निको निमित्त पाकर हाथ जल जाता है। क्यों जल जाता है, इसमें कोई क्यों चलती नहीं है। यदि कोई न समझे, हाथपर आग रखदो, अपने आप समझ जायेगा कि क्यों जल जाता है। सूर्यका निमित्त पाकर ये पदार्थ प्रकाश परिणत हो जाते हैं, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। शास्त्रोंके शब्दों का निमित्त पाकर आत्मामें परिणमन हो जाता है। नियम, प्रकृतिकी बात और निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध एक ही बात है। यह चौकी, इसके सामने प्रकाशपरिणत काष्ठ है। अतः यह काठको निमित्त पाकर प्रकाशरूप परिणत हो रही है। दर्पण को निमित्त पाकर इस कमरे के पदार्थ प्रकाश परिणत हो जाते हैं। जो ये किरणें दीख रही हैं -- ये भी स्कन्ध हैं। सूर्यको निमित्त पाकर जो प्रकाश परिणत हो रहे हैं। जगतमें जो भी निर्माण हो रहा है, वह सब निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धसे हो रहा है। इसी का नाम प्रकृति है।

जीवके कोई कारण पाकर कषाय भाव उत्पन्न हुए,उस उदित कषायको निमित्त पाकर कर्मबन्धन हो जाता है। और उस कर्मबन्धनका नाम है, कार्माण शरीर। उसी कार्माण शरीर के साथ तैजस शरीर भी है। इस तैजस कार्माण शरीरमें रहने वाला आत्मा जिन परमाणुओंको ग्रहण करता है, नाम कर्मके उदयको निमित्त पाकर यह ढांचा बन जाता है। यह शरीर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ। यहां प्रकृति माने कर्म और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध। इस प्रकृतिसे हमारा शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर औदारिक वर्गणाओंका बना हुआ हैं। पचेन्द्रियोंमें नारकी और देवका शरीर वैक्रियक वर्गणाओंसे बना हैं। मेरे शरीरके निर्माणमें मां-बाप की कोई करतूत नहीं है फिर अपनेमें यह भ्रम क्यों लगाये हो कि मेरे उत्पन्न करने वाले मेरे माता-पिता हैं। तुम्हारे शरीरके बननेमें निमित्त रजोवीर्य है। तथापि सारी विधिका तो अध्ययन करलो।

प्रथम तो भैया, शरीर न मिले तो अच्छा है। शरीरका बन्धन टूट जाये, यही सबसे बड़ा काम है। मगर मोहमें इस कामके लिये उत्साह ही नहीं जगता है। ऐसा प्रयत्न करो कि इस शरीरका बन्धन टूट जाये। यह शरीर जीव का कुछ नही है। यह संस्थान तो जीवका कुछ हो ही नही सकता है।

बोलना और देखना—ये दो राग बढ़ाने के खास कारण हैं:—

सबसे अधिक निर्पत्ति इन्हीं दो खास कारणोंसे मिलती है। हे आत्मन् तू हैरान मत हो कि तुझे मालूम नहीं कि आंख और मुंह पर नियन्त्रणके लिये दो ढक्कन लगे हैं। तुम इन दो ढक्कनोंसे आंख और मुंहको बन्द कर डालो तो वह इन सब विपत्तियोंसे छूट जाओगे। बोलना और देखना अब मदद करते हैं तो और इन्द्रियोंके कारण भी अधिक नुकसान पहुंचता है। कान, नाकमें और सारे शरीरमें ढक्कन नहीं हैं। भाग्यसे आंख और मुंहपर ढक्कन भी मिल गये हैं। लगाओ या न लगाओ तुम्हारी इच्छा है। यह शरीर मेरा कुछ नहीं लगता है।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥

जीवके राग नहीं है, द्वेष नहीं है और मोह भी नहीं है। तथा जीवके न तो आस्रव (भावकर्म) है, न कर्म है और न नोकर्म (शरीर) है।

जीवके राग नहीं है। अथवा राग जीवका कुछ नहीं है। राग क्या चीज है? राग प्रकृतिके उदयको निमित्त पाकर जीवकी चारित्र शक्तिसे होने वाले परिणमनको राग कहते हैं। राग आत्माका परिणमन है वह कर्मोदयको निमित्त पाकर हुआ, अतः वह न तो जीवका ही कहा जा सकता है, न कर्मका ही। जो जिसका स्व होता है, वह उसके पास तीन काल रहता है। राग जीवका कुछ नहीं है। कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाकर हुआ राग किसका कहा जाये? जैसे दर्पण है, दर्पणके सामने रंगबिरंगी चीज रख दी, दर्पण रंग बिरंगा हो गया। अब हम रंग बिरंगापन किसका बतावें? यदि हम

दर्पणका कह देते हैं तो रंग विरंगापन दर्पणका सदा होना चाहिये और कागजमें वह फिर नहीं रहना चाहिये ? यदि रंग विरंगी चीजका रंग विरंगापन बता देवें तो वह उसके प्रदेशसे बाहर नही जा सकता है। वास्तवमें रंग विरंगी चीजको निमित्त पाकर दर्पण रंग विरंगे रूप परिणम रहा है। यहाँ पर जीवका स्वरूप बताया जा रहा है। जब जीवके स्वरूपको निरखते हैं तो राग जीवका नहीं है सम्यग्दृष्टि जीव हरेक चीजको अनेक दृष्टियोंसे जब जान लेता है तो उनके उपयोगमें शुद्ध स्वरूप के अतिरिक्त कुछ ठहर नहीं पाता है। राग आत्मामें नहीं है, स्वभावसे देख रहे है। राग जड़ पदार्थोंमें भी नहीं है. अतः राग ठहरेगा कहाँ सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायके अशुद्ध भावोंको आश्रय नहीं देता है। ये रागादिक भाव एक क्षणको आते है और दूसरे क्षणको चले जाते है। यह आत्मा एक क्षणको आने वाले राग आदिमें राग करके क्या नफा पायेगा, केवल आकुलता ही पायेगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको रागमें राग नहीं होता है। आये हुए राग पर उसे खेद रहता है, उसे अपनाता नहीं है। और न आशा करता है कि वह राग बना रहे। वह रागको वियोग बुद्धिसे टालना चाहता है। जीवके राग कुछ नही है। राग आत्माका परिणमन है। तथापि स्वभाव दृष्टिकी प्रधानतासे आत्माके पारिणामिक भावको देखने वाला जीव चैतन्य शक्तिके अतिरिक्त जितने भाव हैं; उतने भावोंको सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है। जीवके राग नहीं है, जीव तो चैतन्य स्वरूप है।

जैसे कोई सेठ हो, आरामसे पलने पुसने वाला हो। उसे कैद हो जाये और उसे चक्की पीसना पड़े तो वह चक्की तो पीसेगा, परन्तु उसके पीसनेमें वह आनन्द नहीं मानता है। उनका चक्की पीसनेमें राग नहीं है। यही हालत सम्यग्दृष्टिकी है। उसे भोगना पड़ता है, परन्तु उसकी भोगनेमें इच्छा नहीं होती है। जिसका भाव वैराग्यका हो गया है, उसका मन तो रागके करनेमें लगता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टिके राग तो होता है, मगर रागमें राग नहीं होता है। जैसे कोई रईस आदमी है। उसे हो जाये बुखार। वह स्प्रिंग वाले पलंगपर पड़ा हो, वहां चारों ओरसे सजा हुआ कमरा हो, चारों ओरसे पंखे चल रहे हो, द्वारपर चपरासी खड़ा हो, डाक्टर वैद्य बुखार देख रहे हों. अर्थात्

सब प्रकारका आराम हो, परन्तु क्या वह रईस ऐसे आरामको चाहेगा। उसे औषधि दी जा रही हो, उसे पी भी रहा हो, परन्तु उसमें उसे राग नहीं है, उसकी यह इच्छा नहीं है, कि मैं औषधि ऐसे ही सदा पीऊं। पी रहा है अतः औषधिसे राग है, परन्तु औषधिके रागसे राग नहीं है। वह नहीं चाहता कि मुझे ऐसी औषधि जिन्दगीभर मिले। औषधि पीकर किसीके मनमें यह भाव नहीं आता कि हमें यह औषधि जिन्दगी भर मिलती. रहे, चाहे वह मीठी ही क्यों न हो। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको कर्मोदयके कारण नाना विडम्बना होती हैं, उसे राग भी होता है, मगर वह उसे चाहता नही है। सम्यग्दृष्टि जीव चीजको चाह लेता है, मगर वह चाहकी चाहको नहीं चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि यह आत्माका वैभाविक परिणमन है क्षणिक है, उसे आस्रवके प्रति ऐसा विश्वास है, मगर वह आस्रवमात्रको नहीं चाहता है। कोई आदमी किसी दूसरे आदमीकी हिंसा कर ही नहीं सकता। हिंसा करेगा तो अपनी करेगा और दया भी करेगा तो अपनी ही करेगा। वह हिंसा क्या हुई, दूसरेके सम्बन्धमें जो विचार हुए, इसका नाश हो जाये आदि, उन विकल्पोंसे हिंसा हुई और हिंसा भी हुई विकल्प करने वालेकी। जब हिंसाका विकल्प होता है, जीवको मारनेका विकल्प होता है। जीव चाहे मरेगा बादमें, पहले हिंसा विकल्प करनेसे हो ही गई।

सम्यग्दृष्टि जीवके पापका उदय और पुण्यका उदय बराबर है। पुण्यके उदयमें भी उसे निर्विकल्प शान्ति नहीं और पापके उदयमें भी उसे शान्ति नहीं है। ऐसी उसकी प्रतीति है जो पुण्य और पापको बराबर देख रहा है, क्या वह उनके कारण भूत उपयोगको बराबर नहीं मानेगा ? मानेगा। और शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे बने हैं पुण्य और पाप। पुण्य और पापके उदय से सुख और दुःख होता है सो वह सुख दुःखको भी बराबर मानता है। सम्यग्दृष्टिने कुछ ऐसी चीजका अनुभव कर लिया है कि उसकी दृष्टिमें पुण्य भी कष्टकर है और पाप भी उसे कष्टप्रद प्रतीत होता है। एकेन्द्रिय जीवोंमें गुलाबके पुण्यका उदय अन्य अनेक फूलोंसे अधिक है। गुलाबके फूलके पुण्यका फल हुआ-फूलका तोड़ा जाना। पुण्यका उदय है ना, चम्पाके ? सो उनके

पुण्यका उदय होनेके कारण वे तोड़ लिये जाते हैं। खराब फूलोंको कौन तोड़ता है, उनका आयुच्छेद तो लोगोंके निमित्तसे नहीं होता है। सदा पुण्य और पापके उदयमें कष्ट मिलता है। एकको मानसिक कष्ट और दूसरेको शारीरिक कष्ट होता है। यह उपाधि भी मानसिकदुःख, । आधि-मानसिक दुःख उप--समीप जो मानसिक दुःखके पास ले जाये, उसे उपाधि कहते हैं। धनादि सब उपाधि हैं। एक क्षण भी जीवनका ऐसा गुजरे कि समस्त विकल्प छूटकर शुद्धोपयोग रहे। आत्माका ध्यान हर वक्त बना रहनेके लिये तीन वक्त सामायिक करना बताया गया है।देखोना छः घन्टे अन्यत्र गये फिर सामायिक।शामकी सामायिक से सुबहकी सामायिकमें १२ घण्टेका अन्तर रहता है सो वहां भी करीब जगने के तो छह घण्टे गये। दिनकी सामायिकोंका अन्तर छह-छह घन्टेका है। साधु की नींद एक अन्तर्मूहूर्तसे अधिक नहीं होती है।यदि उनको नींद अन्तर्मुहूर्तकाल अधिक हो जाये तो सातवें गुणस्थानसे गिर जाता है। छट्ठे गुणस्थानका अन्तर्मुहूर्तकाल भी ४८ मिनटका नहीं होता है, बहुत हल्का मध्यम अन्तर्मुहूर्त होता है। सो साधु तो अर्धरात्रिमें भी सामायिकमें बैठ जाते हैं।

जीवके राग नहीं है। जैसे आप कहते हैं कि हमारा बच्चेमें राग है। तुम्हारा राग और बच्चेमें पहुंच जाये ऐसाहो नहीं सकता। तुम्हार राग तुम्हारेमें ही रहता है, किन्तु आप बच्चेको विषय बनाकर अपने राग भावका आविर्भाव कर रहे हैं। हमारा कोई भी परिणमन किसी अन्यमें नहीं पहुंचता है। यह सब एकाँगी नाटक हो रहा है, दो मिलकर कोई कुछ नहीं कर रहे हैं केवल एक ही करने वाला है, वही उसे देखने वाला है, या भोगने वाला है। भला करते हो तो अपना, बुरा करते हो सो अपना। भिखारीको देखकर क्या आप उसके लिये भीख देते हैं। आपने भिखारीके रोनेको देखकर अपने आपमें एक नया दुःख उत्पन्न कर लिया, उस दुखसे आप बेचैन हो जाते हैं। अपने दुखको मेटनेके लिये आप भिखारीको भीख देते हैं। आप बच्चेको दुःख देकर अपने रागको पूर्ण करते हैं। आप बच्चेको नहीं पोषते हैं, आप अपने रागको पोषते हैं। जो करता है, वह अपनी बात करता है, दूसरेकी कोई कुछ नहीं करता है। इस संसारमें कोई किसी की नहीं सुनता है, सब अपनी अपनी सुननेमें लगे हैं। कोई किसीका

हितैषी नहीं है। हरेक प्रकारसे आप अपने ज्ञानकी वृद्धि करके अपनेको जान लो।

जीवके राग नहीं है, यह बात बताई जा रही है। रागमें ये कषाय आ जाती हैं:—माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसंकवेद—ये प्रकृतियां रागमें आ जाती हैं। राग नामकी कोई प्रकृति अलगसे नहीं है माया लोभादि कषायोंका नाम ही राग है। ये सब आत्मामें नहीं हैं। जिस प्रकार राग आत्माका कुछ नहीं है, उसी प्रकार द्वेष भी आत्माका नहीं है। क्रोध, मान, अरति और शोक, भय और जुगुप्सा—ये द्वेषकी प्रकृतियाँ हैं। मान द्वेषमें आता है, इसका कारण जो मान करता है, उसकी दृष्टिमें अन्य लोग मेरेसे नीचे हैं, यह भरा रहता है। मान करना द्वेषकी ही किस्म है। किसी से विशिष्ट राग हो, उसमें अपने आपके बड़प्पनका अभिप्राय नहीं रह पाता है। अपने आपके बड़प्पनका ख्याल तभी होता है जबकि किसीसे द्वेष हो। अरति और शोक भी द्वेषका ही परिणमन है, यह द्वेष भी आत्माके नहीं है। ये द्वेष कर्मज है, सहेतुक है, पौद्गलिक है, अतः आत्माके नहीं हो सकते हैं। पुद्गलके निमित्तसे होने वाले पौद्गलिक कहलाते हैं। आत्मामें रागद्वेष पुद्गलके निमित्तके बिना नहीं हो पाते हैं। रागादि हैं आत्माके ही परिणमन। यदि सब प्रकारसे वर्णन न किया जाये तो जीवको ठीक दिशा नहीं मिल पाती है। जिसको यही पता नहीं कि रागद्वेष मेरे हैं, मुझे दुःख देते हैं, तो रागद्वेष मेंटनेका प्रयत्न ही क्या करेगा? रागद्वेष मुझमें उत्पन्न होते हैं, जिस काल ये उत्पन्न होते हैं, उस काल ये मेरेमें तन्मय हैं। यदि यही जाने कि ये रागद्वेष मुझमें उत्पन्न हुए हैं और यह पता न हो कि ये सहेतुक हैं, पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं तो उसे यह कैसे मालूम होगा कि रागद्वेष दूर किये जा सकते हैं। इस कारण उपादान दृष्टिसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं और जिस काल उत्पन्न होते हैं तन्मय हैं, तो भी आत्माके स्वभाव भाव नहीं है, निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं। ये रागद्वेषादि यद्यपि पुद्गलको निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं मुझमें ही, तथापि ये दुःखरूप हैं, अतः इन्हें दूर करना चाहिए।

यह भीतरका विचार ही अपनेको वरवाद करता है। एक तो वाहरका कोई शत्रु नहीं होता है। यदि होता भी है, तो दूर किया जा सकता है। परन्तु अपने घरमें छिपा शत्रु अपनी उन्नतिको रोक देता है, उसकी स्थिति सदा भयावनी होती है। ये राग आदि आत्माके भीतरी शत्रु हैं, आत्माके वैभाविक परिणमन हैं। स्वभाव दृष्टिसे देखनेसे यह निर्णय होता है कि रागद्वेष मैं नहीं हूं। आज किसी पुरुषके विषयमें ख्याल हो गया कि यह मेरा दुश्मन है, तव वह आकुलित होता है और जव यह मालूम हो जाता है कि यह मेरा भीतरसे हितैषी है तो मित्रता हो जाती है।

पदार्थ है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। पदार्थमें इष्ट पनेका कोई निजी तत्त्व नहीं है। जैसे यह समयसार किसीको जवर्दस्ती पढ़ाया जाये तो यह उन्हें अनिष्ट है। और जो इसका जानने वाला है, यही पुस्तक उसे इष्ट हो जाती है। यह पूस्तक स्वयं न इष्ट है, और न स्वयं अनिष्ट है। हमारी जैसी रुचि होती है उसीके अनुसार हम हिस्से वना डालते हैं। वस्तुके तो हम हिस्से क्या वना सकते हैं, हमारेमें जो अध्यवसान अपने परिणमनसे आप उठता है, हम उसके दो भाग कर डालते हैं।—इष्ट और अनिष्ट। वास्तवमें हम पदार्थके टुकड़े नहीं कर सकते हैं। पदार्थ तो स्वयं इष्ट भी नहीं हैं, न ही पदार्थ अनिष्ट है। रागके कारण वस्तु इष्ट प्रतीत होती है और द्वेषके कारण वही वस्तु अनिष्ट जचने लगती है। जो वच्चा आपको वचपनमें प्यारा लग रहा था, वह उस समय आपके लिये इष्ट था, वही वच्चा वड़ा होने पर अनुकूल व्यवहार न होनेसे अनिष्ट प्रतीत होने लगता है। जो स्त्री जवानीमें इष्ट प्रतीत हो रही थी, वह वाल पक जानेके कारण आज अनिष्ट प्रतीत होने लगती है। कोई पर पुरुष जो आज तुम्हारे लिये अनिष्ट है, और वही यदि तुम्हारे विषय कामनाओंमें साधक वन जाये तो वही इष्ट प्रतीत होने लगत है। अपना वालक चपटी नाकका भी हो, मुंहसे लार वह रही हो, तव भ वह आपको इष्ट प्रतीत होता है। आपका अपना चेहरा चाहे असुन्दर भ हो, दर्पणमें देखते ही सुन्दर कहने लगते हो। दुनियांमें जो आपको इष्ट लगे

वही आपको सुन्दर लगने लगता है और जो आपको अनिष्ट लगता है, उसे आप असुन्दर कह देते हैं। यह सब अपने अपने मनकी कल्पना है। कोई वस्तु स्वयं न सुन्दर है, न ही कोई वस्तु स्वयं असुन्दर है। जिनका आपसे राग है, उसे आप सुन्दर कह देते हैं और जो आपके लिये अनिष्ट है, उनको आप असुन्दरका डिप्लोमा दे देते हैं। देखो भैया! जिनसे आपका राग है, उनमें आप सुन्दर असुन्दरका ठीक निर्णय नहीं दे सकते हैं तो जिनके विषयमें आपको राग नहीं है उनके विषयमें देखो। जैसे पशु, पक्षी वगैरह, जानवरोंमें कुत्ता और कुतिया इन दोनोंमें आपको कौन सुन्दर लगता है? बैल और गाय—इन दोनोंमें आपको किसका शरीर अधिक सुन्दर लगता है? कुछ ऐसे प्रकरण हैं कि इन प्रकरणोंसे स्त्रीवेदी जानवरोंकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है और पुरुषवेदी जानवरोंकी सुन्दरता नष्ट नहीं हो पाती है। पुरुषवेदी जानवर सुन्दर दीखते हैं।

आप अपनी मनुष्य जातिमें ही देख लो जिसे आप इष्ट मानते हैं, वह आपका सुन्दर है, जिसे आप अनिष्ट मानते हैं वह आपके लिये असुन्दर है। इष्ट माने आपकी इच्छाओंका प्रिय। सु+उन्द्+अर्। 'उन्दी' क्लेदने धातु है। जो भले प्रकार से दुःख पहुंचावे उसे सुन्दर कहते हैं। सु उपसर्ग है, अरच् प्रत्यय लगा है। यह सुन्दर का सही अर्थ है। क्योंकि इष्ट वस्तुके संयोगसे आपको दुःख ही पहुंचता है। जिसे आप कहते हैं कि यह चीज हमें सुन्दर लगती है, उसका मतलब हुआ कि यह चीज हमें दुःख देने वाली है। वस्तु न स्वयं इष्ट है और न अनिष्ट है। रागभाव इष्ट बनाता है और द्वेषभाव अनिष्ट बनाता है। विभीषणको रावणसे कितना स्नेह था कि जिसकी रक्षा के लिये उसने जनक और दशरथके सिर काट डाले। विभीषण इस खोजमें था कि यदि जनक और दशरथ न रहेंगे तो सीता और राम भी पैदा नहीं हो सकते है अतः हमारा भाई नहीं मारा जा सकेगा। परन्तु जब रावणने परस्त्री हरण किया तो विभीषण रावणके कितना प्रतिकूल हो जाता है कि रावणके साथ युद्ध होनेमें कितनी ही सफलताओं में तो विभीषणका ही अधिक हाथ था।

वस्तु उत्पाद–व्यय ध्रौव्यात्मक है। पदार्थ अपने गुणोंमें तन्मय है, अपना परिणमन स्वयं करने वाला है, निजके क्षेत्रमें रहता है। इसके सिवाय जो कुछ

अन्य बात पदार्थके विषयमें कहोगे, यह सब तुम्हारी कल्पना है। पुस्तक ७ इन्च लम्बी है, ४ इन्च चौड़ी है—यह सब तुम्हारे दिमागमें भरा है। पदार्थ तो उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक है। पदार्थ न लम्बा है, न चौड़ा है। इन स्कन्धों में तो असलमें पदार्थ एक एक अरणु है।

अपन लोग भगवानसे ज्यादह जानते हैं। क्यों भैया ! यह मकान मेरा है, इस प्रकारका जो आपका परिणमन हुआ, यह तो भगवानके ज्ञानमें झलक रहा है, परन्तु यह भगवानके ज्ञानका विषय नहीं है कि यह मकान इनका है जो मनुष्य यह मकान मेरा है. इस प्रकार अपने विकल्पसे कलुषित हो रहा है, यह भगवानको ज्ञात है। किन्तु भगवान यह नही जानते कि यह मकान इसका है और आप जानते। सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं, जो न तो कम जाने और न अधिक जने अतः हमारा ऐसा ज्ञान मिथ्या है। मकानका ऐसा स्वरूप नहीं है कि मकान मेरा है। मकानका स्वरूप द्रव्य-गुण पर्यायमय है। अमुक पदार्थ मेरा है यह भी उसकी प्रतीतिमें है और उसने उसके विषयमें अधिक जान रखा है। ज्यादह जानना भी मिथ्या ज्ञान है। वह अधिक जानना यही तो है कि जो तत्त्व वस्तुके स्वरूपमें नहीं है, उसे भी कल्पित कर लेना। अधिक जाननेका रिजल्ट यह हुआ कि हमारा ज्ञान घट गया। इन जड़ पदार्थों का स्वरूप और कारण न जान पाये, यह भी गलती है और इसके विषयमें अधिक जान लेना यह भी गलती है जो भगवानसे बढ़कर जानना चाहता है उसकी दुर्गति होती है। ये जगतके पदार्थ न तो स्वयं इष्ट हैं और न स्वयं अनिष्ट हैं। हमारा ही राग इन्हें इष्ट बना देता है हमारा ही राग इन्हें अनिष्ट बना देता है। जो हमारी कल्पना हैं, उसे हम इष्ट मान लेते हैं और उसे ही अनिष्ट मान लेते हैं।

शुद्ध चेतनमें राग नहीं है द्वेष नहीं है, इसी प्रकार आत्मामें मोह भी नहीं है। यह आत्माके श्रद्धा गुणका परिणमन है। मोह कर्मोदयके निमित्त से होता है, मोह आत्माका स्वभाव नहीं है। जब किसीके लड़केकी आदत बिगड़ जाती

है, तो उसे दीखता है कि यह इसकी आदत नहीं थी, इसे दूसरोके बच्चोंकी आदत लग गई है।

मेरे आत्माकी आदत राग द्वेष करनेकी नहीं है। यदि आपको आत्मासे रुचि है तो आपको ऐसा ही दिखेगा। जरा आत्मस्वरूपको देखो आत्माको आदत राग द्वेष मोह करना है ही नहीं। यह तो कर्मोदयके निमित्तसे लग गई है। केवल आत्मा आत्माको देखो तो आत्मा निरपेक्ष शुद्ध है। शुद्ध विकाससे देखे गये आत्माका यहां वर्णन नहीं है किन्तु निरपेक्ष स्वरूपसे देखे गये आत्माका यहाँ वर्णन इस प्रकार आत्मामें राग द्वेप मोह नहीं है। मुझ आत्मामें अध्यवसान नहीं है। इस प्रकार राग द्वेप मोह ये तीनों बातें आत्मामें नही है, ऐसा वर्णन किया गया है।

जीवके आस्रव नहीं है। आस्रवके ५७ भेद हैं:—

५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग। विपरीत अभि-प्रायको मिथ्यात्व कहते हैं। वस्तु स्वतन्त्र है, परन्तु यह किसीके द्वारा बनाई है, यह श्रद्धा होना विपरीत अभिप्राय है। वस्तु अनेक धर्मवाली है, किन्तु सर्व दृष्टियोंसे वस्तुका निर्णय न करके एक दृष्टिको ही सत्य मानना मिथ्यात्व है। अपने आप को फालतू मानकर प्रत्येक को ये भी देव हैं ये भी देव है। इस प्रकारका अभिप्राय आना विपरीत अभिप्राय है। भगवान चाहे किसी को भी मान लिया जाये, परन्तु भगवानका स्वरूप ठीक मानना चाहिए। बुद्धं वा वर्द्धमानं केशवं वा शिवं वा-चाहे किसी को भी भगवान कहलवालो।

छह कायके जीवोंकी रक्षाका भाव न आना और उनकी विराधनाका भाव आना, उसे कहते हैं काय-अविरति। मन और इन्द्रियके विषयोंसे विरक्ति न आना इन्द्रिय अविरति हैं। क्रोध- मान माया लोभको कषाय कहते है। मन वचन कायका हिलना डुलना योग कहलाता है। ये सब आस्रवके कारण है, आस्रव भी अपना नहीं हैं जो चीज अपनी नहीं है, उस चीजपर हठ कर लेना अपमानका कारण है। इसी तरह जो आत्माकी चीज नहीं है और उस विषयमें हठ हो जाये, इसको ऐसा करके मानूंगा, मैं तो रसगुल्ला ही खाऊंगा

अभी ही होना चाहिए यह सब आत्रवोंकी हठ है। जो विभाव परिणमन होते हैं, वे अपनी वस्तु नहीं है उसके विषयमें हठ करनेसे कोई लाभ नहीं है उल्टे हानि ही है। मेरा किसी वस्तुसे राग हुआ है, यह राग हितकर नहीं है। रागको करके उसकी हठ मत करो। परिवारमें यदि अधिक लोग हैं सम्पत्ति अच्छी है यहाँ आरामका बुद्धि मत करो। मोहमें जीवको ऐसा लगता कि मैं ही उत्तम हूँ, बरवाद होते होंगे तो और लोग होते होंगे। भैया किसी जगह विश्वास मत करो। आस्रवकी हठ करनी बुरी हैं। बच्चे को हठ लगी हो वह सुखी नहीं हो सकता है। हमको तो सबके हिस्सेसे दुगुने ही रसगुल्ले मिलने चाहिए, मैं कम नहीं ले सकता इसका फल पिटाई है। किसीको किसी गरीवसे भी हठ हो जाये यह भी वहुत बुरी चीज है।

एक स्त्री वहुत हठीली थी। मैं पतिकी मूंछ मुडाकर ही रहूँगी ऐसी उसे टेक आ गई। वह पेटके दर्दका वहाना लेकर पड़ गई। पेटका दर्द अच्छा हो तो कैसे हो, वह तो हठका दर्द था।वहुत लोग देखने गये वैद्य डाक्टर आये,पेटका दर्द ऐसे नहीं मिटा।पतिने कहा कि दर्द कैसे मिटे? स्त्रीने कहा जो भी हमारा प्रिय हो, वह मूंछ मुड़ाले तो हमारा पेटमें दर्द ठीक हो जायेगा। क्योंकि एकवार पहले भी ऐसेही ठीक हुआ था। पतिने सोचा कि है कौन वड़ी वात,उसने अपनी मूंछे मुड़ाली। स्त्रीको और चाहिए ही क्या था? प्रतिदिन सवेरे उठकर चक्की पीसती हुई गावे 'अपनी टेक रहाई, पतिकी मूंछ मुड़ाई।' पतिने सोचा यह तो इसने मुझे चिढ़ानेके लिये किया है अतः इसे भी मजा चखाना चाहिए।

पतिको एक उपाय सूझा। उसने ससुरालमें एक पत्र लिखा कि तुम्हारी लड़की वहुत सख्त वीमार है, वड़े वड़े डाक्टर वैद्य वुलाये गये, किसीकी भी औषधि कार्यकर न हुई, देवता भी वुलाये, सबने यही सलाह दी कि इसकी बीमारी तभी ठीक हो सकती है, जबकि सव इसके परिवार वाले सिर और मूंछे मुड़ाकर एक लाइनमें इसे देखने आवें, अन्यथा यह मर जायेगी। यदि आपको अपनी प्रिय पुत्रीके दर्शन करने हो तो आप जैसा जानें सो करें। ससुरालमें चिट्ठी पहुंची, सबने वैसा ही किया और लाइन वनाकर वे सुवह हीसुवह आये जव कि उसका चक्की पीसनेका टाइम था। वह चक्की

पीसनेका टाइम था। वह चक्की पीसती हुई प्रतिदिनकी तरह गाती है कि "अपनी टेक रखाई पतिकी मूंछ मुड़ाई।" उसी समय पति कहता है कि "पीछे देख लुगाई, मुण्डनकी पलटन आई।" स्त्री बड़ी लज्जित हुई।

अतः भइया, टेक करना अच्छी चीज नहीं है। न बड़ोंसे हठ करो, न छोटोंसे। हमेशा अपने अपराधोंको मान लो। दुनियां इन्द्रजाल है। यहां कोई न्यायधीश थोड़े ही बैठा है, वेधड़क कहदो कि मेरेसे यह गलती हो गई। किसी भी आस्रवका हठ मत करो। अपने आपमें आये हुए राग परिणामका भी हठ मत करो। यदि हठ करोगे तो धोखा खाओगे। प्रायः लोग खाने पीने की बड़ी हठ करते हैं। किसी चीजकी इच्छा हुई, वह तुरन्त मिलनी चाहिये। ऐसा अभी होना चाहिए ऐसी हठ करना कभी अच्छा नहीं है। विनयसे रहोगे, सब कुछ मिलेगा, उज्जड्डतासे रहोगे, सब कुछ रहा सहा भी उजाड़ वैठोंगे। जो चीज विनयसे मिल सकती है, वह कभी हठ से नहीं मिल सकती है। आस्रवोंमें आत्मवुद्धि होना सबसे पहली हठ है। यह हठ पर्यायबुद्धि होनेपर होती है। जो कुछ सोचा, बस वही सही, यह पर्यायकी हठ है। अरे. तुमसे ज्यादा चतुर तो आठ २ वर्षके बच्चे भी होते हैं। उनका भी ज्ञान अधिक पाया जाता है। भैया! यहां मिला ही क्या है जिसपर इतना इतराया जाय।

एक वावू साहव थे। नावमें बैठकर सैर करने चले। वे मल्लाहसे पूछते हैं कि अवे, तू कुछ इंग्लिश भी जानता है। उत्तर मिला—नहीं वावू जी। वावू जी कहते हैं कि वस तूने अपनी आधी जिंदगी खोदी और पूछा कि अच्छा हिन्दी भी जानता है या नहीं। फिर वही उत्तर पाकर उपेक्षाकी दृष्टिसे वावू जी ने कहा कि वस अब तो तूने ¾ (पौने) जिंदगी खोदी। जव नौका मंझधारमें पहुंची और डगमगाने लगी तव मल्लाहने वावूसे पूछा कि वावू साहव आप तैरना भी जानते है। वाबूजी ने कहा, नहीं। मल्लाह बोला—तो वावू जी आपने तो अपनी पूरी जिन्दगी खोदी। जव नाव डूवने लगी, मल्लाह तो तैरकर वाहर निकल आया और वावू जी वहीं पानीमें विलीन हो गये।

इस प्रकार सभी प्रकारकी हठ बुरी हैं। यह मोही जीव तो भगवानको

भी बड़ा नहीं मानता है। हमारी बड़ी सिद्धि हो रही है, इस प्रकार मोही जीव अपनेसे बढ़कर किसीको नहीं समझता है। अपनी ही पर्याय उसे रुचती है। रागद्वेष मोह कषाय ये आत्माके कुछ नहीं हैं। इन भावास्रवोंका कारण कर्मका उदय है। कर्म जब बंधे होंगे तभी तो उदयमें आयेंगे। कर्मोंके बंधने का कारण जीवका कषाय भाव है। जीव अपने कषाय भावोंको बनाकर अपना नाश कर डालता है। संसारके प्रत्येक, जीव अपने ही आप अपने ही कषायसे अपने दुःखका कारण बना लेते है। किसीसे कुछ मिलना नहीं हैं, परन्तु परके विषयमें विकल्प बना बनाकर यह व्यर्थ दुखी होता है। ये आस्रव मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं, ये जीवमें प्रकृतिसे आये हैं। सांख्य लोग समझते हैं कि प्रकृतिसे अहंकार हुआ, वास्तवमें निमित्त-नैमित्तिक भावसे कषाय परिणमन होता है। अहंकार मुझ पुरुषमें नहीं है, प्रकृत्तिसे आये हैं। आई हुई चीजका हठ नहीं करना। आये हैं तो उन्हें उपेक्षाभावसे आने देना और उसी प्रकार निकल जाने देना। उनमें आदर और आत्मबुद्धि नहीं करना। किसीने कुछ कहा, उसकी उपेक्षा कर देना, उसे हृदयमें स्थान न देना, उनको वहीं खत्म कर देना चाहिये। कोई कुछ भी प्रतिकूल कहे, जो उन बातोंको पी जाये, वह सुखी रहेगा, जो उस ओर उपयोग लगायेगा, उसे क्लेश ही क्लेश हैं। बार बार बाह्यसे अपना उपयोग हटाकर उस चैतन्य स्वरूपकी ओर ले जाओ। हठ करना बुरी चीज है। किसीको छोटा मत समझो चूहे जैसे जानवर भी सिंहके काम आ जाते हैं। मरनेपर भी अनेक पशुवोंका शरीर मनुष्यकी कोई चीज किसी अन्यके काम नहीं आती है। मुझसे छोटे छोटे जीव भी बहुत काममें आ जाते हैं। खोटे परिणाम बढ़ते २ इतने बढ़ जाते हैं कि उनकी हद हो जाती है। हमारे दुश्मन हमारे खोटे भाव है, अतः उन्हें नष्ट करनेकी जल्दीसे जल्दी कोशिश करना चाहिए। भक्ति करो, सत्संग करो, पुस्तक लेकर पढ़ो—ये सब खोटे भाव दूर करने और उपयोग बदलनेके उपाय हैं। दुखियोंके बीच जाकर खड़े हो जाना, इससे भी अपनी अक्ल ठिकाने लगती है। अनेक उपाय करके खोटे परिणामोंकी हठ मत करो। खोटे परिणाम होते हैं तो तत्काल रोक दो।

जीवके कर्म नहीं हैं। कर्म जीवका कुछ नहीं है। यहां भेदविज्ञानकी बात चल रही है यह पहचाननेके लिये कि मैं आत्मा शुद्ध कैसा हूँ ?, लोग भी कहते हैं, ग्रन्थ-पुराणोंमें भी वर्णन किया गया है कि जीवके साथ कर्म लगे हैं। व्यवहार दृष्टिसे यह बात सही भी है कि जीवके साथ अनादिकालसे कर्म लगा है। यह कर्म जीवको दुःखका कारण बन रहा है किन्तु कर्म क्या है, इस बातपर प्रायः लोगोंने कभी विचार नही किया है। और यह कहकर उपेक्षा कर दी कि यह आत्माका भाग्य है। कोई लोग अधिक विचारमें उतरे तो यह कह दिया कि विधिने यह तकदीर लिखी है, इसे ही कर्म कहते है। किसी ने कहा कि जीव जो करता है, वह कर्म है और उसी के अनुसार जीव फल पाता है।

जो लोग कहते है कि जीव जो करता है, उसीके अनुसार फल भोगता है, यह बात उनकी सही भी है। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि जीव ऐसा क्यो करता है ? कर्मनामक जैसे किसी पर द्रव्यके माने बिना इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता है। कितने ही लोग किसी मृत प्राणीकी खोपड़ी उठाकर कह देते हैं कि देखो इसकी खोपड़ीमें क्या लिखा है ? हड्डियोंमें प्रायः कुछ चिन्ह विशेष होते ही हैं, हरेक जगह कुछ अस्पष्ट निशान तो होते ही है, लोग उन्हीं चिन्होंको दिखाकर कह देते है कि देखो, यह लिखी है, इसकी तकदीर। तो वह कर्म चीज क्या है, इस विषयको प्राचीन ऋषियोंकी युक्तियोंपर ध्यान देते हुए देखो।

जीव एक चैतन्यमात्र वस्तु है, इसमें रूप-रस गन्ध स्पर्श कुछ भी नहीं है। ज्ञान दर्शन मात्र यह अमूर्त आत्मा है। जगत्में ऐसे स्कन्ध सर्वत्र भरे पड़े हैं,जो आंखसे दिखाई नहीं दे सकते है, परन्तु है वे स्थूल। वे स्कन्ध जो कर्म रूप बन जाते हैं, उसका नाम है कार्माण वर्गणाएं। इस प्रकार दो भिन्नजातिके पदार्थ है। जब यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेषादि रूप कषाय करता है तो यहाँ ही जीवके एक क्षेत्रावगाहमें भरी हुई जो कार्मांण वर्गणाएं है, उन वर्गणाओंमें प्रकृतिसे जीवको फल देनेकी शक्ति पैदा हो जाती है। जीव उन वर्गणाओंके उदय कालमें क्रोधी, मानी, लोभी बन जाता है। जीवके साथ कुछ कार्मांण वर्गणाएं बन्धरूपमें लगी हैं उन्हें कर्म कहते हैं, वह जीवसे भिन्न

वस्तु है। जीवकी जो क्रिया है, परिणाम है, वह तो जीव से उस काल में अभिन्न है, परन्तु जो कर्म उसके साथ लग गये वे कर्म आत्मासे अलग हैं। कुछ ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीवके साथ वे कर्म जाते हैं और फल देने तक उनके साथ रहते ही है। उन कर्मोंकी बात कह रहे हैं कि वे कर्म भी जीवसे भिन्न नहीं हैं। हे आत्मन्! जिस किसी प्रकार भी हो, उनके पदार्थोंसे न्यारे क्रोध-मान-माया लोभ, राग-द्वेष आदि जो जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं, ऐसे जानन देखन मात्र उस आत्माका अनुभव करो। संसारका झंझट मिट जायेगा और उस समाधि की स्थिति में परमात्माके दर्शन करोगे। मोहके रहते, विकल्प, चिन्ता, शोकके रहते हुए परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता है। सब विकल्पोंको छोड़कर अपने आत्माके अनुभव में लगो, वहां परमात्माके दर्शन हैं। जिस पर वस्तुके निमित्तसे यह जीव कर्म करता चला आया है, वह कर्म जीवका नहीं है, अतः उस कर्मसे व उसके विपाकमें ममता छोड़ो। यह संसार माया जाल है, जो भी समागम मिले, वे प्यारे लगते हैं, इनका प्यार करोगे तो स्वाधीन आनन्द, आत्मीय आनन्द और परमात्मा के दर्शन आदि सर्व सुख इससे वंचित रहेंगे। और मिली हुई विभूतिमें शरीरका राग न रहा हो तो परमात्माके दर्शन, आत्मीय दर्शन जैसे बड़े वैभव अन्तरंग में मिलेंगे। फिर भी मोहियों को कर्म किये विना नहीं रुचता है। एक भीखारी भीख माँगता फिरता है, उसकी तृष्णा कुछ ऐसी है कि पांच दिन पहलेकी भिक्षामें मिली हुई रूखी रोटी कुठियामें जोड़े रखता है। भिक्षा मांगते-माँगते एक दिन एक सेठने कहा भाई, तू इन वासी रोटियोंको फैंक दे, तुझे ताजा भोजन करायेंगे। फिर भी उसे यकायक विश्वास नहीं होता है। वह सोचता है कि शायद यह सेठ न दे और मैं इन रोटियोंसे भी जाऊं। उसे यह विश्वास नहीं होता कि मैं बासी फेंककर ताजा प्राप्त करूं। ये जगतके मोही भी जिन पदार्थोंको अपना मानते आये हैं, ज्ञानी गुरुके समझाने पर कि जो तुमने जोड़ रखा है, उससे ममता छोड़ो तुझे अपूर्व आनन्द, परमात्म दर्शन कराया जायेगा। तू अपने आप में परमात्म-दर्शनकरेगा, तू इन सब नश्वर पदार्थोंकी ममता को छोड़ दे, ये पदार्थ अनेकों

के द्वारा भोगे गये हैं, जो यह तुझे वैभव मिला है, यह अनेक आत्माओंका जूठन है, तू इस वासी जूठे भोगोको छोड़ दे और अपने आत्मामें एक अलौकिक आनन्द पायेगा फिर भी इस अनादि काल के भिखारीको सहसा विश्वास नहीं होता है और वह वाह्य पदार्थों से ममता जोड़े रहता है। जो घरके खाते-पीते लोग हैं, उन्हें तो सेठ जी की वात का विश्वास है। इसी तरह तार्किक ज्ञानी को भी विश्वास है कि ये ज्ञानी गुरु भी सत्य कहरहे हैं कि तू इस जूठे भोगोंको छोड़ और तू ताजा भोजन कर। इस प्रकार कोई भिखारी भी धीरे धीरे सिखायेमें आ सकता है। निकट एक मिथ्यादृष्टि भी आत्म शिक्षा में आसकता है।

हे आत्मन् ! राग, द्वेष, मोह और इनके आस्रव तथा कर्मभी तेरा नहीं है। तू इन सव पदार्थों से भिन्न चैतन्यमात्र वस्तु है। आंखों देखी वात असत्य हो सकती है, कानों सुनी वात पर तो कोई विश्वास ही नहीं करता परन्तु अपने अनुभवकी वात कभी असत्य नहीं हो सकती है। आंखों देखी वात में भी दम नहीं होता है।

एक राजाका नौकर रात को प्रतिदिन राजाका पलंग विछाया करता था। एक दिन नौकरके मनमें आया कि लेट करके तो देखे कि क्या आनन्द आता है। वह चादर तानकर ज्योंही सोया कि उसकी नींद लग गई। रात को रानी आई, उसने समझा कि महाराज साहव सो रहे होंगे, वह भी वहीं वरावर में पलंग पर सो गई। थोड़ी देर वाद राजा आया। रानीको एक पर पुरुषके साथ सोया देखकर उसकी आँखें क्रोधसे आग ववूला हो गई। उसने सोचा कि मामला क्या है। यह तो जाने। राजा ने रानीको जगाया, रानी हकवकी सी हो गई। वह न समझ सकी मामला क्या है। राजाने नौकरको जगाया। नौकर जगा तो काँपता-काँपता गिड़गिड़ाता है। नौकरने सारी वताई कि महाराज, मैंने सोचा कि विस्तरपर थोड़ा आराम करके देखलूं कि मेरी नींद लग गई। राजाने अनुभवसे जाना कि वात ऐसी ही है, और सत्य भी है। ये सव आंखों देखी वात तो है, जो अनुभव किये विना असत्य सिद्ध हो जाती है। धन, मकान, रिश्ता, जायदाद-ये सव असत्य है। जरा अनुभव करो,

निर्णयमें अपने आप असत्य प्रतीत हो जायेगा। यह सब संसारके पदार्थ माया हैं, पर्याय हैं, अनित्य हैं। यह सब असत्य कैसे जाननेमें आयेगा ? एतदर्थ पहले सत्य बातका पता लगाना होगा। क्योंकि जब सत्य बातका निर्णय हो जायेगा, तभी तो इस संसार को असत्य समझा जायेगा। सत्य बात के मालूम चलने पर ही असत्य बातका निर्णय किया जा सकता है। जैसे–एक आपका नौकर बाजार से कोई ।।) की चीज लाया और ।।।) के पैसे बताता है कि वस्तु ।।।) में आई है। किसी तरह से आपको यह विश्वास हो कि यह चीज ।।) में ही आती है तो आप तभी जानेंगे कि यह झूट बोल रहा है। भैया ! एक सनातन अहेतुक। भजनोंमें बोलनेसे तो समझमें नहीं आता है कि यह दुनियां झूठी है। झूठी तो तभी यह समझमें आता है, जबकि सत्यको आपने खोज निकाला हो। जो सत्यको समझे बिना दुनियाको झूठी कहते हैं वे स्वयं झूठे हैं, क्योंकि मान तो रहा दुनियां को सत्य, किन्तु गा रहा कि दुनियाँ झूठी है और हम कहते हैं कि वह स्वयं झूठा है। जिसके बलपर जिसको निमित्त पाकर यह जीव नाना नाच कर रहा है, वह कर्म भी जीवसे भिन्न है। कर्म जीवका कुछ नही हैं। ये कर्म संसारमें सर्वत्र भरे पड़े हैं, जब जीव कषाय करता तब उन्हें खींच लेता है अर्थात् (निमित्त रूपसे) है, कर्म का रूप कर लेता है। और उन कर्म वर्गणाओंको अपने सुख दुःखका कारण बना लेता है। जब जीवको राग पैदा होता है, वह किसी वस्तुको अपना लेता है और अपने सुख दुःखका कारण बना लेता है। जब जीव कषाय करता है, तब वह कार्माण वर्गणाओं को अपना लेता है और कर्मों को अपने सुख दुःख का कारण बना लेता है। जब जीव राग करता है तो वह अपनी इष्ट अन्य वस्तुओं को अपना लेता है और उसे अपने सुख दुःखका कारण मान लेता है। यह भी आप जान, रहे कि जिसे आप अपना लेते हैं, वह आनन्द का कारण तो बनता नहीं है, किसी न किसी रूप में आकुलता का कारण बनता है। यदि आनन्द चाहता है तो पर वस्तुको अपना मत मानो। यदि पर वस्तु को अपनाया तो सब आपकी चेष्ठाएँ बदल जायेंगी। जैसे किसी कुटुम्ब में केवल-स्त्री पुरुष ही हैं। पुत्र का राग उठा, किसी को गोद लिया, कुछ दिन

आकुलता महसूस नहीं हुई, परन्तु कुछ दिन बाद वह भी आकुलता अनुभव करने लगता है। उतनी तो आकुलता उसे होगी ही कि जितनी अन्य लड़के वालोको होती है। कोई बालक हो तो उसे कोई चिन्ता नहीं होती है। उसका जीवन विद्यार्थी, पुरुषार्थी के रूप में आनन्दके साथ बीतता है। आरामसे पढ़नेकी धुन है, पढ़ रहा है विशुद्ध विशुद्ध विकल्पोंमें चित्त चल रहा है, आकुलता उससे कोसों दूर है। जब शादी हो गई, वह उसीमें खुशी मानता है। कुछ दिनों बाद दो हो जानेके कारण आकुलताएं बढ़ीं। जब बच्चे थे सब पर विश्वास करते थे, अब उनका किसी पर विश्वास होता ही नहीं है। उनका जीवन कलुषित बनने लग जाता है। कोई जीव दुखमें पड़ा हुआ भी अपनेको आराममें मानता है। कुछ अन्तरंग दुःख तो ऐसे हैं वह उनको प्रकट नहीं कर सकता है। कुछ दुःखऐसे होते हैं, जो दूसरोंको दिखनेमें आ जाते है। बच्चे हुए, अनेक हुए, उनके पालन-पोषण रूप दुःख सामने मुंह फैलाये खड़ा है। कितना भी धन मिला हो, उनका गुजारा नही हो पाता है। देखो, बचपन मे उसकी जिंदगी कितने आराममें बीतती थी, अब उसके पग-पग पर दुःख है, पद-पद पर आपत्ति है। मार्ग कष्ट का कीर्ण है, अपने जीवन का कोई लक्ष्य नहीं बांध पाता है। जो व्यक्ति जितने बड़े पद पर पहुंच जाता है, उसके उतने ही दुःख बढ़ जाते हैं। जब दुबारा चुनाव होता है, तब यह चिन्ता सवार हो जाती है, कहीं हार न जायें, नाक कट जायेगी, सारी इज्जत मिट्टी में मिल जायेगी यहां तक सोच बैठता है कि यदि इस चुनाव में न जीत पाया तो मर जाऊंगा, किसको अपना मुंह दिखा न पाऊंगा, पर्याय बुद्धि में मरनेके सिवाय अन्य चारा ही क्या है? कितना घृणित विचार कर बैठता है यह आत्मा। अन्तरंगमें इच्छा है प्रधान मंत्री राष्ट्रपति या अन्य मंत्री या राज्यपाल आदिबनने की, खड़े भी चुनाव में, परन्तु वह कह देता है कि अब इस ओर जाने की हमारी इच्छा नहीं है मैं अब मंत्री आदि नहीं बनना चाहता हूँ। उनको लगा रहता है कि कदाचित हार गये कि लोगों में रहकर लोग यह न महसूस करें कि अमुक व्यक्ति हार गया है—यह ऐसा वातावरण बनाना चाहता है। सुख है कहां? लौकिक सुखों की दृष्टि से देखो तो भूमि पर अपनी

रात बड़े आरामसे विताने वाला कुम्हार भी सुखी है। कहां सुख, दुःख मयी दुनियांमें ?

कर्मके उदयसे प्राप्त हुई चीजमें सुखकी खोज करना, यह सफल होनेका जरा भी उपाय नहीं है। यह श्रेष्ठिवर कुन्दकुन्दाचार्य समझा रहे हैं, इन भोले भूले भटके जगतके भिखारियोंको । हे भिखारियों ! इस वासे और भूठे रूखे भोजनको छोड़ो, इससे तनिक तो मुंह मोड़ो, हम तुम्हें स्वाधीन और आत्मीय आनन्दको देने वाला ताजा भोजन खिलायेंगे। परन्तु यह अनादिका भिखारी उसीको अपूर्व मानता है, उसे ज्ञानियोंकी वातपर सहसा विश्वास नहीं होता है। कोई तर्कको जानने वाला भिखारी (ज्ञानका भिखारी) आचार्यकी शरणमें जाता है और अनुकूल आचरण करता है, मोक्षमार्ग के नाना उपाय करता है। तब वह जानता है कि ओह ! मैंने परमें उपयोग रखकर अनादि कालसे अपना जीवन यों ही विपय वासनाओंमें विता दिया। ये कर्मरूपी विपवृक्षके फल हैं। ये मेरे भोग अपनाये विना ही निकल जाओ। मैं तो केवल चैतन्यमात्र तत्व का अनुभव करता हूँ। मेरा समय स्वानुभव में जावे। यह कर्म मेरे कुछ नहीं हैं— इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है।

कहते हैं कि जीवके नोकर्म नहीं है। ईपतकर्मको नोकर्म कहते हैं। कर्मके वाद यदि किसी अन्य निमित्तपर नम्बर आता है तो वह है शरीर। जीवके दुःखी होनेमें निमित्त है कर्म, और वह कर्म फल देवे, इसमें कारण वनता है शरीरी कल्पना करो कि जीवके साथ कर्म लगे हैं, शरीर नहीं हो तो फल कैसे मिलेगा ? शरीर फल देनेमें कर्मका सहायक है, अतः इसका नाम नोकर्म रखा। सभी के अपने-अपने न्यारे-न्यारे शरीर हैं और सभी को अपने शरीर द्वारा दुःख-सुखका अनुभव होता है। अभी आपके शरीरमें बुखार हो तो थर्मामीटर लगाकर आपके वुखार का अन्दाज लगाया जा सकता है, परन्तु आप उनके वुखारका अनुभव नहीं कर सकते हो। जो जिसके साथ विपदा लगी है। वह उसके द्वारा सुख दुःखका अनुभव किया जाता है।

शरीरोंकी जाति देखो कितनी हैं। एक जाति ऐसी भी है, जिसके आंख, नाक, कान, मुंह आदि कुछ भी नहीं है, उन्हें स्थावर जीव कहते हैं। उनमें

पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और वनस्पतिके शरीर होते हैं। पन्ना, हीरा, मोती, जवाहरात, सोना, चांदी आदि सब पृथ्वी कायिक जीव हैं। दिखने वाली चीजें सभी जीवके शरीर हैं। यद्यपि बहुत सी चीजें अब जीव नहीं हैं, लेकिन पहले थी। जो भी पदार्थ तुम्हें दिखाई देते हैं, वह सब जीवका शरीर है, कोई मुर्दा है, कोई जिंदा। नोकर्मका ऐसा साम्राज्य है कि सर्वत्र नोकर्म ही नोकर्म नजर आ रहा है। यह नोकर्म भी जीव नहीं है। शरीर को जीव छोड़ देता है तब शरीर अलग रह जाता है और जीव अन्य शरीरको धारण कर लेता है। अरहंत देवका शरीर अरहंत अवस्थाके बाद यहां ही उड़ जाता है आत्मा उनका सिद्ध अवस्थामें पहुंच जाता है। शरीर जीव कभी नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर प्रकट अचेतन है, जीव प्रकट चेतन है, इनका स्वरूप परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है।

**जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई।**
**णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥**

जीवके न तो वर्ग हैं, न वर्गणायें, न कोई स्पर्धक हैं, न अध्यात्म-स्थान हैं और न अनुभाग स्थान हैं। जीवके वर्ग नहीं हैं। ये जो कर्म बांधे गये हैं, ये अनेक कार्माण परमाणुओंके समूह हैं। अब उन परमाणुओंमें कुछ ऐसा विभाग डाल दिया जाय जो बराबर-बराबरकी शक्तिके परमाणु हैं, वे वर्ग हैं। जितने कर्म बांधे, उनमें परमाणु बहुत हैं। जो कर्म बांधे हैं, मानो उनमें १० नम्बरकी शक्तिसे लेकर १०० डिग्री तकके परमाणु आ जाते हैं। उन सबमें वर्ग वर्गणा आदिका विभाग है। वर्गके समूहका नाम है वर्गणाएं। इनके बाद स्पर्द्धक हो जाते हैं। ऐसे अनेक स्पर्द्धकोंके समूह कर्म कहलाते हैं। ये वर्ग, वर्गणाएं और स्पर्द्धक-इनमेंसे कुछ भी जीवके कुछ नहीं हैं। अध्यात्मस्थान भी जीवके नहीं हैं। आत्मासे उत्पन्न होने वाले जितने भी विभाव हैं, उनमेंसे जीवका कुछ भी नहीं है। जगतके पदार्थों में जो विश्वास रखता है कि मैं था, मैं हूं, मैं हूंगा-इनका फल है उल्टे। जैसे खाये बिना चैन नहीं पड़ती है अतः खालो, मगर यह मेरा है, इसके बिना तो गुजारा हो सकता है ना ? तो फिर मेरा

है, मेरा है, ऐसा क्यों भूत लग गया। बस यही तो संसारका कारण है।

भरतको कहते हैं कि घरमें रहते हुए वैराग्य हो गया। घरमें रहते हुए, राज्यको भोगते हुए भी उनके मनमें यह नहीं था कि यह मेरा है। एक जिज्ञासुने पूछा महाराज आप इतने ठाट बाटसे तो रहते हैं, फिर लोग आपको वैरागी क्यों कहते हैं ? मन्त्रियोंने कहा हम समझाते हैं। एक तेल भरा कटोरा जिज्ञासुको दिया और कहा कि तुम पहरेदारोंके साथ जाकर राजमहलका एक एक विभाग खूब अच्छी तरह घूम आवो और तेलका कटोरा हाथमें लिये रखना ध्यान रहे कि कटोरेमें से तेलकी एकभी बूंद जमीनपर न पड़ने पाये, नहीं तो शूट कर दिये जाओगे। अब वह जिज्ञासु पूरे राजमहलको देख रहा है, परन्तु दृष्टि है उस तेल भरे कटोरे पर। जब वह पूरा राजमहल घूम आया, मान्त्रयोंने पूछा तुमने क्या देखा ? जिज्ञासुने कहा, महाराज, घूमा व देखा तो सर्वत्र, परन्तु देखा कुछ नहीं, क्योंकि निगाह इसपर थी कि कटोरे में से कहीं तेलकी बूंद न गिर जाये। मन्त्री कहते हैं—इसी प्रकार महाराज भरत करते तो हैं राज्य परन्तु दृष्टि रहती है आत्मस्वरूपपर। राज्य करते हुए भी वे इन सब बाह्य वैभवोंसे विरक्त हैं, केवल अन्तर्वैभवपर दृष्टि है।

जैसे कोई कुटुम्बमें या दूसरे के घरमें कोई मर गया हो, घरपर वह रोटी भी खाता है, मगर उपयोग उस मृत प्राणीकी ओर ही जाता है। ऐसा तो कभी होता नहीं कि भोजन कर रहा हो, उपयोग अन्यत्र होनेसे कानमें कौर देने लग जाये। इस भोजन करते हुए भी उसका चित्त भोजन करनेमें नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिकी भीतरी प्रतीति शुद्धस्वभाव पर रहती है, बाह्यमें वह समस्त कार्य करता है। जैसे मुनीम है। वह दूकानकी पूरी रक्षा करता है, मगर उसे मनमें प्रतीति यह है कि मेरा कुछ नहीं है, परन्तु करता है वैसा, जैसे उसीका सब कुछ हो। फिर ज्ञानीके ज्ञानमें ही क्यों सन्देह ? उसकी प्रतीति आत्मामें ही है। माता जैसे बच्चेको "नासगया, मरन जोग्गा, होते ही क्यों न मरगया था" आदि गाली देती है, परन्तु उसके मनमें उसके हितकी इच्छा रहती है। कुछ ऐसी ही प्रेरणा होती है कि करना कुछ और पड़ता है और चित्तमें कुछ और होता है। जिस वक्त ज्ञानी जीवको यह श्रद्धा हो जाती है कि मेरा वैभव मेरा

गुण है, मेरा स्वामी मेरा आत्मा है, मेरा जनक मेरा आत्मा है, मेरा पुत्र मेरा आत्मा है, मेरा बन्धु मेरा ज्ञान है, मेरी स्त्री मेरी अनुभूति ही है, सर्व परिवार मेरा मेरेमें ही है, ऐसा जिसे प्रत्यय हो गया है, वह पुरुप सहज उदासीन हो जाता है।

जो सुकौशल मुनि अभी खेल कूद रहे थे। थोड़ी देर बाद जब पिताके दर्शन हुए। माँने पिता (मुनि) को निकालने का आदेश दिया, यह देख धाय रोने लगी। सुकौशलने सानुरोध धायसे रोनेका कारण पूछा। धाय कहती है कि बेटा, जो ये मुनि आये थे, ये तेरे पिता थे तेरी माँने घोपणा कर रखी है कि यहां पर कोई मुनि न आ पाये और जो आये उसे तत्काल भगा दिया जाये। यह सुनकर सुकौशलका मन विरक्त हो गया। लोगोंने बहुत समझाया कि तुम्हारी स्त्रीके अभी गर्भ है, उसको तिलक करके विरक्त हो जाना। परन्तु सुकौशल कह देता है कि गर्भमें ही मैं उसका राज्यतिलक करता हूँ। और कहकर सुकौशल कुमार से सुकौशल मुनि बन जाता है।

जैसे आपका कोई मित्र है। यदि आपको मालूम चल जाये कि वह आपके प्रतिकूल पडयन्त्र रच रहा है तो आपका उसके प्रति मन खट्टा हो जाता है। यही हाल सम्यग्दृष्टिका है, उसका मन समस्त पदार्थोंसे विरक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि कहीं भी चला जावे, मगर वह अपनी आत्मकोठी को कभी नहीं भूलता है। उसको ऐसे आनन्दका अनुभव होता है कि जो आनन्द कहीं नहीं है। जिसका मन संसारसे विरक्त हो गया, फिर उसका मन संसारके भोगोंमें क्या लगेगा। जिसने एक बार ऊंचे आनन्दका अनुभव कर लिया है, वह कनिष्ठ आनन्दका अनुभव क्यो करना चाहेगा ? रागद्वेप आदि मेरे कुछ नही है, मैं तो चैतन्यमात्र आत्मा हूँ।

ऊंची से ऊंची बातका जिस कालमें अनुभव किया, उसका स्मरण सदा आता ही है। सम्यग्दृष्टिको ऐसा विश्वास प्रति समय बना रहता है कि आनन्द इसही स्थितिमें है आत्मा न वैष्णव है, न बनिया है, न ब्राह्मण है, न ठाकुर है, न जैन ही है। वह तो जो है सो है। और जैसा वह है, वैसासमझमें आता है। जिस किसी के समझमें यह आत्मा आ गया, समझो उसका कल्याण हो गया।

मुझे इससे लाभ नहीं कि मैं दुनियांकी दृष्टि में ब्राह्मण कहलाऊं या जैन कहलाऊं। मेरा लाभ, जैसा स्वरूपसे मैं हूं, उसे पहिचान जाऊं, इसमें है। इसके बाद मैं कुछ नहीं चाहता हूँ। अपने आत्माको पहिचानने तक की देर है, जो होना होगा, वही होकर रहेगा।

आत्मज्ञान तकका पुरुषार्थ किये जाओ, वह आत्मज्ञान सब विधियां लगायेगा। "आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारये चिरम्।" बहुत काल तक आत्मज्ञानके सिवाय अन्य बात धारण न करो।

एक राजा था। वह घूमने जा रहा था। तालाबके किनारेपर जब वह नहाने उतरा तो संयोगतः उसकी मुद्रिका तालाबमें गिर गई। और संयोगसे वह कमलके बीचमें आगई। सायंकालका समय था, कमलके बीचमें वह भी मुंद गई। बहुत ढुंढवाया, नहीं मिली। राजाके मंत्रीगण एक अवधिज्ञानी मुनिके पास गये। उन्होंने बताया कि एक तालाबके कमलमें बन्द है। मंत्रियोंने वहां जाकर ढूंढा, मिलगई। अब पुरोहितके मनमें आया कि मैं इस विद्याको सीख जाऊं तो बड़ा आनन्द रहे। मुनिके पास आया, सीखना प्रारम्भ किया। जब उसे आत्मज्ञान हो गया अब उसका मन उससे अलग नहीं हुआ। उसने सोचा, मुझे तो उससे भी अच्छी चीज मिल गई है।

जैन शास्त्र कहते हैं कि चाहे जहां जाओ, सत्य का निर्णय स्वयं कर लेना। अन्य लोग तो कहते हैं कि "न गच्छेज्जैन मन्दिरम्"। इसका कारण यह है कि लोगों को यह भय है कि यह जैन मन्दिरमें जायेगा तो यहभी जैन हो जायेगा। जैनदर्शनमें आचार, वस्तु स्वरूप भगवानस्वरूप, आत्मस्वरूप सबका वर्णन। सुगम और झट प्रतीतिमें आने वाली वस्तु स्वरूपके अनुकूल वर्णन है। उसको सुनकर वह इसका प्रत्यय प्रायः कर ही लेगा। अतएव उन्होंने ऐसी सूक्तियां गढ़ डाली हैं। जैन न्यायमें ऋषियोंने अन्यमतों का भी वर्णन इस खूबी से किया कि आप कहेंगे, बस यही ठीक है। किसी-किसी बातमें तो उन लोगों से भी अधिक तर्क दिया है। अन्यमतों का प्रतिपादन भी जैन न्यायोंमें किया गया है। तुम्हारा अनुभव कहे तो उन बातोंको मानो। जैन शास्त्र कहते हैं कि अन्य शास्त्रोंको भी खूब देखो जो सत्य प्रतीत हो, उसे स्वीकार करो। सत्य

को ग्रहण करो, धर्म विशेपको नहीं। वस्तुका जो स्वरूप हैं, उसपर ही दृष्टिदो, उस स्वरूपमें शुद्ध आत्मा नजरमें आयेगा। आत्मामें जो भी भाव समझते आरहे हैं वे औपाधिक हैं पर्यायें है अतः वे अध्यात्मस्थान भी आत्माके नहीं है। आत्मा ध्रुव है ये स्थान अध्रुव हैं। वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक तो प्रकट पुद्गल द्रव्य है ही। किन्तु इनके उदयादि अवस्थाको निमित्त पाकर जो अध्यात्मस्थान होते है। वे भा आत्माके नहीं है अथवा वे आत्मद्रव्य नहीं हैं !

आत्मामें जो संयो ी भाव हैं व जो संयुक्त पदार्थ हैं उनसे पृथक चैतन्यमात्र निजसत्तामय अपने आपके परिचयसे मोक्षमार्ग प्रगट होत है। सर्वक्लेशोंसे मुक्ति पानेके लिये निज परमात्मतत्त्व जानना अनिवार्य आवश्यक हे। जिसने अपने आपको जाना उसको ईश्वरके गुणमान करना तथा शिर रगड़ना लाभदायक है। अपने आपको जाने विना सिर रगड़नेसे गूमटे ही हो जावेंगे। आत्माको जाननेसे ही ज्ञाता द्रष्टा बन सकता है।

जैसे रोटी बनाने वालेको शंका नहीं होती कि यह बनेगी अथवा नहीं वैसे ही ज्ञानियोंका शंका नहीं होतो कि मुक्ति मिलेगी या नहीं। उन्हें तो यह सूझता रहता है, भक्ति यही है, मुक्ति इसी रास्तेसे है, मैं पहुंच कर रहूंगा, वह दूर नहीं मुझे जरूर मिलेगी क्योंकि मुक्तिकहीं अन्यत्र नहीं आत्मा है इसही का शुद्ध विकास मुक्ति है। इसी तरह आत्मतत्त्वकी बात समझने वाले को सन्देह नहीं होता। उसे तो दृढ़ धारणा रहती है सम्पग्दर्शन ज्ञान चारित्र मिल कर ही एक मोक्षका मार्ग है। तीर्थंकर मोक्ष नहीं देते, न शास्त्र देते हैं और न मुनिही शिवदाता हैं। आत्माके द्वारा आत्मा ही आत्माको मुक्ति देता है।

एक घड़ेमें लड्डू भरे रखे थे। बन्दरने आकर हाथमें ३-४ लड्डू भर लिये। अब हाथ नहीं निकलता, तो निकाले कौन, जब वह उन्हें छोड़े तब हाथ निकले। इसी तरह यह जीव अपने ही कारणो से संसारमें भटक रहा है तथा उन कारणोंको छोड़कर अपने ही द्वारा छूट सकता है।

प्रायः मनुष्य मिथ्याका अर्थ झूट करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं, मिथ्या शब्द मिथ् धातुसे बना है मिथ अर्थात् दो का सम्बन्ध। तो जहां मिथ्या कहा जाय

वहां दो का सम्बन्ध जानना चाहिए। परको अपना मानना यह हुआ मिथ्या। यह दृष्टि खराब हुई, जहां एक को ही माना जावे वह दृष्टि अच्छी। जैसे यह आत्मा अकेला ही सब कार्य करता है। तो भी परस्पर के सम्बधको लगा कर जीव जाना करते हैं। आत्मतत्त्व जो है वह स्वसंवेदन से जाना जाता है। बाह्यसे दृष्टि भिन्न रखो।

सर्व पदार्थ भिन्न हैं, उनसे मेरा कोई हित नहीं होता। क्रोधरूप मैं नहीं मानरूप मैं नहीं, मायारूप मैं नहीं और न लोभरूप मैं हूँ। निजका ध्रुव जो स्वभाव है वह अखंड, चिदानन्दमयी, ज्ञाता दृष्टा मैं हूँ। ज्ञानरूप आत्मा मेरी अन्तः देदीप्यमान हो रही है स्वभावतः स्वभाव जानने का उपाय देखो आम छोटा रहने पर काला रहता है, कुछ बढ़ने पर हरा हो जाता है, फिर पीला, लाल, रंगमें परिणत हो जाता है। इसमें आम का रूप बदला है, आम तो वही है जो पहले था। और रूप सामान्य भी वहीं है। बदला कौन ? रूप। सो जो रूप नामक गुण प्रारम्भसे सदा है वह है रूप स्वभाव। यह तो आत्म स्वभाव जाननेके लिये दृष्टान्त है। अब आत्मा में देखो चैतन्य स्वभाव अनादि अनन्त है किन्तु प्रति समय ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगके परिणमन हो रहे हैं। यथा संभव छद्मस्थों के क्रमशः व केवलियों के युगपत। इसमें जो परिणाम रहा है वह तो है चैतन्य स्वभाव और जो उसकी परिणतियां हैं वे है पर्याय। चैतन्य स्वभाव ध्रुव है वह है आत्म स्वभाव। कहते हैं ना आदमी बदल गया। यही आदमी पहले था, यही अब है। मनुष्य परिस्थितियों में पड़ कर अन्य रूप हो गया है, न कि मनुष्य ही दूसरा हो गया है ? रूप गुण ध्रुव है। काला, पीला, नीला, अध्रुव है। ज्ञान तो ध्रुव है, किन्तु उसकी दशायें अध्रुव हैं। ध्रुवकी दृष्टि कल्याण युक्त है, अध्रुव की अकल्याण युक्त है।

जिनके ध्रुव आत्म स्वभावका परिचय नहीं वे इस बात पर अचरज करते है साधु जंगलमें अकेले कैसे रहते होंगे, उन्हें भय नहीं सताता होगा। इस तरह की कल्पनायें आत्मस्वरूपानभिज्ञ मनुष्य किया करते हैं। इस तरहके मनुष्योंको बुद्धिपूर्वक यथार्थ बात सोचना चाहिए कि साधु जंगलमें निरपेक्ष भावका ध्यान करते हैं। जब वहां किसी की अपेक्षा ही नहीं तो भय किस

वस्तुका। कपड़ा गीला था, धूलमें गिरनेसे धूल लग गई, सूख जाने पर धूल झर जाती है। वैसे ही कर्म कषायसे बंधे थे, कषाय दूर हुई, कर्मोंने विदा ले ली। स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा है, कुटुम्बीजन मेरे हैं, यह मेरे आश्रित रहते हैं, मैं इनका भरण पोषण करता हूँ ये मुझे सुख देते हैं, इस तरह की कल्पनासे अशुभ कर्म बंधेगा। भगवान आप त्रिलोकी नाथ हैं, संसार के तारक हैं, मैं अज्ञानी हूँ, परपदार्थोंमें रमण कर रहा हूँ, इससे भी शुभ कर्म बंधे। लेकिन जहा एक निर्विकल्प, निरपेक्ष ध्यान है वहाँ कर्म नहीं आते, मार्ग कर्मोंका अवरुद्ध हो जाता है।

विकार सहित परिणाम करके कषाय बढ़ा कर निज स्वभावका प्राणी घात करते हैं। जितनी आत्मायें हैं, उनमें परमात्माका वास है लेकिन ऐसा नहीं कि परमात्मा छोटा या बड़ा किसी रूप हो और प्रत्येकमें जुदा २ ठहरा होवे। तात्पर्य यह है प्रत्येक आत्मामें परमात्मा होने की शक्ति है। परमात्मा तो आकर तुम्हारी आत्मामें नहीं समागया तुम्हारा ही स्वभाव परमात्मतत्त्व है।

यह जीव जिस तरह के परिणाम करता है, उस तरह के सुख दुख भोगता है। एक लड़का दूसरे लड़के को २० हाथ दूरसे चिढ़ाता है तो लड़का चिढ़ने लगता है, गाली बकता है, रोता है क्रोध करके मारनेको झपटता है। लेकिन क्या चिढ़ाने वाले की उंगली वहां गई, या जीभ, नाक, हाथ, पैर, वहां पहुंच गया। और देखो साथ के अन्य लड़के नहीं चिढ़ते हैं, तो इसमें अपने ही परिणामोंके अनुसार चिढ़ाना और दुख उठाना मान रखा है। देखो वे सभी बालक अपनी अपनी योग्यतानुकूल अपना अपना परिणमन कर रहे हैं। जगत के जीव जो भी सुखी होते हैं वह अपने ही भावसे सुखी होते हैं और अपने ही भावसे दुखी होते हैं। एक घर में ६ आदमी हैं उनमें दो सुखी हैं तथा ४ दुखी है, तो उन चार को किसी ने दुखी बनाया नहीं किन्तु उन्होंने ऐसा मान रखा है, इसलिए उनके परिणाम ही उन्हे दुख देते हैं।

रामचन्द्र जी ने क्या कम दुख उठाये, कृष्णजी को आपत्तियोंका सामना करना पड़ा, भरत, बाहुबलि को दुख उठाना पड़ा। यह सब पुण्यवान जीव थे।

फिर दुख क्यों ? यथार्थमें असली परीक्षाकी कसौटी आपत्तियोंपर से ही कसी जाती है , उनमें जो खरा उतर गया, विषादको पल्ले नहीं पड़ने दिया इस तरहके जीवने ही आत्मतत्वको समझनेमें सफलता पा ली।

मैं एक आत्मा हूँ इस तरह प्रतिभास जिसे हो गया, उसी आत्माका ध्यान करनेपर आत्मामें पूर्ण सुखकी झलक आ जाती है। प्रत्येक आत्मा न्यारा न्यारा है। किसीकी परिणति किसी अन्य आत्मामें नहीं मिलती। प्रत्येक प्राणी अन्यकी सेवा करनेमें सभी उद्यत होता हैं, जबकि उसे सेवाभावमें अन्तरङ्ग से सुखकी झलक होती है और सेवा विना अपनेको दुखी पाता है। एक अध्यापक १० छात्रोंको पढ़ाता है। १ बुद्धिमान निकलता है, क्या वह अध्यापकके पढ़ानेसे ज्यादा समझ लेता है,तथा बाकी मूर्ख रहते हैं तो क्या बाकी छात्रोंके हृदयमें पढ़ाना ठीक नहीं बैठता मास्टर। उनमें अध्यापकने न तो एकको बुद्धिमान बना दिया है और न ६ को समझानेमें कमी की है। किन्तु बुद्धिमान छात्रकी ज्ञान योग्यता आत्मामें पहलेसे ही विद्यमान थी, वह ज्ञान कारण पाकर प्रस्फुटित हो गया। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव है। ज्ञान पर पर्दा पड़ा हुआ है, वह अपना समय आनेपर उस तरहकी अवस्थामें पालेता है तथा ज्ञान विकसित हो जाता है। अन्तरङ्गसे ज्ञानका प्रस्फुटित होना स्वभाव है, वह बाहरसे आकर न मिला है और न मिल ही सकता है। अनुभवका स्थान सर्वोपरि है।

संसारी प्रत्येक आत्मा अपने भावके अनुसार चलता है। अपने २ भावके अनुसार स्नेह करता है एवं अपने परिणामोंके अनुसार द्वेप करता है। जिससे हम राग करते हैं हो सकता है वह हमारी कुछ भी परवाह नहीं करता हो भले हम उसे प्राणपणसे हर दम तैयार रहें। द्वेप करनेपर भी, जिसपर हम द्वेप कर रहें हैं, वह आनन्दसे झूम रहा है , उसे द्वेष करने वालेसे कोई हानि नहीं हो रही। पर द्वेप करने वाला अपनेमें ही जल रहा है पार लौकिक हानि तो है ही तथा द्वेप कर्ताको लौकिक हानि भी उठानी पड़ती है। पाचन शक्ति मन्द पड़ जाती है, चेहरा विवर्ण हो जाता है आदि। राग करने पर

भी अन्यका हित नहीं कर सकता। राग करनेसे कहीं यौवनको वृद्धावस्था से नहीं बचा सकते और न वृद्धने पुष्ट ही कर सकता हूं।

हम जो कर सकते हैं वह अपने गुणोंका ही परिणमन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थका कर्ता अपनेको समझना यही संसारक्लेशकी खान है। इस मिथ्याबुद्धिसे बचकर अपनी रक्षा करें।

आत्मतत्वका परिचय कर लेने वाले ज्ञानी आत्मावोंकी वृत्ति एकरूप होती है, किन्तु यदि उपाधियोंका उदय विशिष्ट आवे तो अन्तः श्रद्धा सत्य होने पर भी वृत्ति विचित्र हो जाती है।

एक सेठके एक ३ वर्षका बालक था। सेठ मरणासन्न था। उसने पांच प्रमुखोंको बुलाकर उन्हे जायदादका ट्रस्टी बना दिया और कह दिया कि जब बालक बालिग हो जाय तब जायदाद सौंप देना।

एक दिन ठगने उसे सड़कपर अकेला खेलते हुए देखा और ठग उसे घरले गया और ठगिनी को दे दिया।

ठगिनीके पास बचपनसे ही वह लड़का रहता है। ठगनीके कहने पर वह सब कार्य करता है। खेतकी रक्षा करता है, पशुओंकी देखभाल करता है।

एक दिन वह लड़का अपने शहर पहुंचा। ट्रस्टियोंने समझाया कि तुम अपनी जायदाद संभालो। वह आश्चर्य करता रह गया आखिर बोला कि हम ३ दिन बाद संभालेंगे। झोंपड़ीमें जाकर वह ठगनीसे पूछता है कि सच तो दो मेरे माता पिता कौन हैं। ठगनीने सच २ कह दिया। तुम एक सेठके पुत्र हो जोकि गुजर चुके हैं। अब वह मानता है कि मेरे पिता वह थे जो गुजर चुके तथा ठगनीसे भी मां कहे तो उसपर पूर्ण विश्वास नहीं करता। पर वश होकर उसको ऐसा करना पड़ता है। इसीतरह कर्मों की पराधीनता से परको अपना मान रहा है कर्मो की पराधीनता भी जब जावे, जब पर पदार्थों से मोह करना छोड़ दे।

जब इस प्राणीको यह बोध हो जावे कि मैं अपने ही परिणमनसे जन्मता

हूँ तथा मरता हूँ तव इसे निश्चय हो जावे, मैं ही पुत्र हूँ, मैं हीं अपना भाई हूँ, मैं ही अपना पिता हूं, मैं ही अपना कुटम्वी हूँ तव वह यद्यपि अपने धनकी चोरोंसे रक्षा करता है। उदरपोषणके लिए न्यायपूर्वक धन कमाता है, कुटुम्वीजनोंका निर्वाह करता है. दान देना, पूजन करना आदि नित्य कार्य भी करता है। यह सव होनेपर भी पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न अनुभव करता है, तथा इस फिकारमें रहता है, कव निजात्मानन्दका पान कर उसमें निमग्न हो जाऊं।

वालक, वालिकायें जहां पैदा होते हैं। उनमें वैसे ही संस्कार घर कर लेते हैं। तथा उनके माता पिता जिसको देव मानते हैं उसी को वह पूजने लगते हैं भगवान क्यों है, कैसा है, यह जिज्ञासा व प्रतीति वे नहीं करते। उन्हें जैसी धारणा शुरुमें जम गई उसी पर विश्वास करने लगते हैं, अनेकोंकी दृष्टिमें सव धर्म एकसे मालूम पड़ते हैं उन्हें नमकके ढेले एवं रत्नमें अन्तर ही मालूम नहीं पड़ता। दूध गायका भी होता है, आक का भी, वड़का भी, दूध पर अभी तक ऐसा कोई देखनेमें नहीं आया कि जो आकका दूध पीता हो। गायका दूध सभी पीते हैं। इसी तरह धर्म तो अनेकोंका नाम है किन्तु उनकी असली परीक्षा करनी चाहिए किससे हमारा हित हो सकता है। कौन सा धर्म हमें संसार रूपी समुद्रसे पार कर देगा।

वस्तुतः मनुष्य उसे कहना चाहिए जिसका स्वरूप सदैव एकसा रहे, सो तो आंखोसे देखनेमें नहीं आता। कोई कभी वालक है, तो कभी युवा है, कभी वृद्ध है यदि यह सव दशायें मनुष्य हैं तो दशा मिटनेपर मनुष्य मिट जाना चाहिए। सदैव एक सा रहे वह मनुष्य है सो सदैव अवस्थायें एक सी रहती नहीं। इसलिए इन सव दशावोंमें रहने वाला एक आधार मनुष्य है। यदि मनुष्य जीव है तो मनुष्यकी अवस्था मिट जाने पर जीव मिट जाना चाहिए आंखोंसे आत्मानिर्णय नहीं होता जव आत्माका ज्ञान होगा वह ज्ञानसेही होगा।

वच्चे मिट्टीका भदूना वनाते है, वह थोड़े समयमें गिर जाता है। या वही वच्चा गिरा देता है, अथवा दूसरे वच्चे उसे गिरा देते है,वह अधिक समय नहीं

ठहरता। उसी तरह मनुष्य या अन्य प्राणीके द्वारा जो सृष्टि चलती है, वह अधिक समय नहीं ठहरती, कुछ समयमें वह नष्ट हो जाती है। मनुष्य निश्चय दृष्टिसे सामान्यतया एक रूप ही है। मैं विद्वान हूं, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूं, मैं मुर्ख हूँ, मैं मनुष्य हूं, मैं राजा हूँ इस तरह की कल्पनायें अज्ञानी जीवोंमें उठा करती हैं।

एक आदमी एक साधुके पास पहुंचा और बोला साधु जी मुझे ऊंचा ज्ञान दो। साधु जीने कहा "एकं ब्रह्मास्ति द्वितीयं नास्ति' एक आत्मा है दूसरा कुछ नहीं है। इतनेपर उसे सन्तोष नहीं हुआ तो कहने लगा और अधिक बताइये। तब साधु जीने कहा नगरमें एक पंडित रहते हैं उनके पास जाकर अधिक ज्ञान सीखो। उस आदमीको मर्मकी बातपर विश्वास नहीं हुआ और पंडित जी के पास जाकर पढ़ने लगा तथा विद्यादानके बदलेमें पंडित जीकी गायोंका गोबर उठाने लगा। इस तरह १२ वर्ष विद्या पढ़ते हो गये, अन्त में बोला पंडित जी ' विद्या पढ़नेकी मर्मकी बात तो बता दो'। तब उन्होंने कहा 'एकं ब्रह्मास्ति द्वितीयं नास्ति"। तब फिर उस आदमी की समझमें आया कि यह तो सबसे पहले ही साधु जीने पढ़ा दिया था, १२ वर्ष गोबर व्यर्थमें ढोया ज्ञानके विना आत्मा घर घर दुखी है, कोई किसीके प्रतिकूल है तो दुखी है, कोई अनुकूल होने पर भी दुखी है।

यह आत्मा अजर अमर है, चैतन्य युक्त है इसपर विश्वास नहीं बैठता। आत्मा अनेक प्रकारका नहीं है, न कोई उपाधि उसमें है। भ्रम बुद्धिसे जीवका उपयोग परमें लग रहा है। कभी परिणाम दुकानमें, कभी घरमें कभी स्त्री पुत्रोंकी रक्षामें, कभी राज कथामें कभी भोजन कथामें इस तरह मन कुछ न कुछ सोचा ही करता है। तथा मन जब वशमें हो जाता है तब परमात्माके दर्शन हो जाते हैं। सोचनेमें परमात्मा नहीं दिखेगा, सोचना बन्द करनेपर ईश्वरके दर्शन हो सकेंगे।

मुसलमान भाई कहते हैं दो फरिश्ते कंधेपर बैठे हैं यह फरिश्ते राग और द्वेष ही हैं तथा चार पहिरेदार इस मनुष्यके साथ लगे है। ये पहिरेदार

आहार, निद्रा, भय और मैथुन संज्ञायें ही हैं। इसी तरह यह जीव भ्रमसे संसार में घूम रहा है।

एक आदमी जंगलमें जा रहा था। रास्तेमें देखता है, एक हाथीने बच्चेको सूंडसे पकड़कर मरोड़ डाला। वह आदमी हाथी द्वारा यह कृत्य देखतेही चिल्लाता है, अरे मेरा बच्चा मरा और बेहोश हो जाता है। वह बच्चा उसका नहीं था, अन्य मनुष्योंने जब यह देखा तो उसका खास बच्चा बुलाया गया। उसे देखते ही वह होशमें आ जाता है। यहांपर उस आदमीको सुख बच्चा देखनेका नहीं हुआ, किन्तु उसे सुख इसका हुआ कि हाथीके द्वारा मरोड़ा गया बच्चा मेरा नहीं है यह ज्ञान हुआ। इसी तरह जबतक पर पदार्थों में अपनेकी ममत्व बुद्धि रहेगी तबतक उसी मनुष्यके समान बेहोशीका नशाजाल छाया रहेगा और जहां अपनेपनकी बुद्धि दूर हुई आनन्द की सहजोत्पत्ति समझो। ममता पिशाचिनीने कितनोंको नहीं डुबोया, तथा उसी ममत्वका गुटका खाते फिर रहे हैं। मोही जीवोंने इस तरह अनन्तानन्त भव बिता दिये फिर भी ममत्व बुद्धि नहीं जाती।

भक्तिमें भाव लगे तो श्रेष्ठ है, बिना भावके छुटकारा नहीं। भक्तिकी ओर अन्तस्थल तक नहीं पहुंचे तो आत्मीक लाभ नहीं होनेका। जब इस प्राणीके द्वारा निश्चय हो जाता है कि इन पदार्थोंसे मेरा निजी अहितहो रहा है, इनसे न आज तक कोई कार्य सिद्ध हुआ है और न आगे जाकर होयेगा, तब वह उन्हे तिलाञ्जलि देकर आत्मोन्नतिके पथमें अग्रसर होता है। जिनका उत्तर कठिन है वह अनुभवसे सुगम हो जाता है। एक पुरुषकी दो स्त्रियां थी। बड़ी स्त्रीके कोई लड़का नहीं था, छोटी स्त्रीके लड़का था। यह देखकर बड़ीको डाह पैदा हो गया। तब उसने अदालतमें केस दायर कर दिया कि लड़का मेरा है। जब बड़ी स्त्रीके बयान लिये गये तो उसने कहा कि जो पतिकी जायदाद होती है, उसकी हकदार स्त्री हुआ करती है, इसलिए लड़का मेरा है। छोटीसे पूछा गया तो उसने भी कहा लड़का मेरा है। जब दोनों अपना २ कहे तो राजाने एक उपाय सोच निकाला। राज्यके तलवार वाले सिपाहियोंको बुलाया गया है

और कहा, इस लड़केको काटकर इन दोनों स्त्रियोंको आधा २ देदो। इसपर बड़ी स्त्री प्रसन्न हुई तथा छोटी चिल्लाकर बोली, महाराज पुत्र मेरा नहीं है, बड़ीका है उसीको दे दिया जावे। तब राजा यथार्थ बात समझ गया कि पुत्र छोटी स्त्रीका ही है, वह किसी भी हालतमें उसे जीवित देखनेमें सुखी है। इसलिए लड़का छोटी स्त्रीको दे दिया गया।

इसी तरह जो एक आत्मा है, उसका हल अपने अनुभवसे निकलेगा। खुदके अनुभव बिना, मात्र शास्त्रोंके सुननेसे उसका हल नहीं निकलेगा, दूसरोंके उपदेशसे भी नहीं निकलेगा। पूरा तो पड़ना अपनेसे दुनियांभरके पदार्थोंको इकट्ठा करनेसे क्या मिलेगा। मनुष्न भोजन करते हैं, पशुभी खाते हैं। किन्तु पशुओं को कलके संग्रहकी चिन्ता नहीं, उन्होंने खाया और चल दिये। पशुका मरनेपर प्रत्येक हिस्सा काम आता है। पशुका चमड़ा, हड्डी, माँस, सींग, गोबर, पेशाब, बाल आदि सभी कार्यमें आते हैं। मनुष्यकी जब तारीफ की जाती है तो पशु पक्षियोंसे उपमा दी जाती है। जैसे अमुक व्यक्ति शेरके समान बलवान है। तो शेर श्रेष्ठ ठहरा। उसकी नाक तोते के समान है, आंख हिरण के समान हैं, बाल सर्पके समान हैं, चाल हाथी के समान है, बोली कोयलके समान है आदि। इस तरह पशु पक्षियोंका स्थान श्रेष्ठ ठहरा। यदि मनुष्यमें एक धर्म नहीं है तो उससे पशु ही श्रेष्ट है। धर्मके होनेसे ही मनुष्यका स्थान पशुओंसे ऊँचा हो सकता है।

परात्मवादी जिन कुतत्त्वोंको आत्मा मानता है वह कोई भी शरण नहीं है शरण तो सहज निरपेक्ष सनातन आत्मस्वभाव की दृष्टि ही है। जब यह दृष्टि न हो तब इस दृष्टिके प्रसादसे जो परमोत्कृस्ट हो चुके हैं उनकी भक्ति है तथा जो इस मार्ग में लगरहे हैं उनकी भक्ति है एवं जो सद् वचन इस मार्गके वाचक हैं उनका अध्ययन मनन विनय है।

चत्तारिदंडक में जहाँ शरण बतलाया है, वहां पूर्वके तीन तो पर पदार्थ है। धर्म निज तत्त्व है। अरहंत, सिद्ध, साधुकी जो भक्ति है, वह व्यवहार भक्ति है उसकी बात अपनेमें उतारे तो लाभ है। अरहतके जो गुण है मेरे गुण हैं, उनको

प्राप्त करनेमें मैं समर्थ हूँ। सिद्धका जो द्रव्य है वैसा मेरा है। सिद्धके जो गुण हैं वैसे मेरे है। तथा सिद्धकी जो पर्याय है वैसी पर्याय पानेमें मैं समर्थ हूँ, इस तरह वह सिद्धको शरण बना लेता। साधुका जो परिणमन है उसकी मैं भी शक्ति रखता हूँ। धर्म भक्ति कहो या उपासना वह निश्चय भक्ति है। मोह, राग द्वेपसे न्यारा जो परिणाम है वह धर्म है, वह धर्म आत्माका खजाना है, उसे चुरानेमें समर्थ नहीं, चुगलखोर बदनाम नहीं कर सकते, मायाचारी उस आत्मतत्त्वको मायाजालमें नहीं फंसा सकते। व्यवहार शरण लेकर पीछे व्यवहार शरण छोड़े तब आत्मबुद्धि पैदा होवे।

धर्म पांच तरहसे बताया है उत्तमक्षमादि दशलक्षणका नाम है। रत्नत्रय का नाम धर्म है। अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का नाम धर्म है। वस्तुस्वभावो धम्मो अर्थात वस्तुका जो स्वभाव है उसका नाम धर्म है। तथा दया धारण करना इसका नाम धर्म है। दश लक्षण धर्ममें राग द्वेप मोहका अभाव कहा है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य प्रत्येकमें यह अच्छी तरह ज्ञात होता है जब तक रागद्वेप मोहका सद्भाव रहेगा तब तक दशधर्म नहीं ठहर सकते। सम्यग्-दर्शन ज्ञान चरित्रमें राग द्वेप मोह रहित परिणाम है। अहिंसामें यही बात है, विपय कपायका अभाव होगा तभी वह बन सकेगी। सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह भी रागद्वेप मोहसे रहित होगा। वस्तूका स्वभाव ही धर्म मय है अर्थात् आत्माका स्वभाव राग द्वेप मोहसे रहित है। जीवोंपर दया तभी की जायगी जब न मोह मिश्रित राग होगा और न द्वेप आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है, शरीरको ही आत्मा माननेमें अनादि कालसे भूल की है और अब भी करनेसे नहीं चुका तो कोई हाथ पकड़ कर मुक्तिके पन्थमें नहीं लगा सकता। संयोग बुद्धि अर्थात मिथ्या बुद्धि को लेकर जो परिणाम होता है वह अनन्तानुबन्धी कपाय है। मोही जीव शरीर, स्त्री, पुत्र पौत्र, सुवर्ज जमीन सभीको अपने मान रहा है, थोड़ा इसका भी तो अनुभव कि मैं ध्रुव ज्ञानस्वरूप हूं। मेरी बात अन्यने नहीं मानी, मेरे विचार नहीं अपनाये मेराअपमान कर

दिया, निश्चयसे क्या यह तेरे हैं विचार तो कर। विचार कर तथा आत्मतत्त्व के मतलब की बात गांठ में बांधले तो हठ बुद्धि छूटते देर नहीं लगेगी। इस मनुष्य पर्याय में सोचते मेरी शान गिर गई, अवहेलना कर दी और वहांसे कूच करने पर मनुष्यसे तिर्यंच हो गया तब क्या मान रह जायगी क्या ? क्षणिक इज्जत के प्रलोभन को त्यागने से असली एव स्थायी शान बना सकता है, जो आज तक प्राप्त नहीं हुई। राग द्वेष रहित परिणाम धर्म है। मन्दिर आना धर्म तो तब है जब वहां राग द्वेप का अभाव होवे वहां वैसी सामग्री उपस्थित है इसलिए धर्म का स्थान होने से परिणामों की निर्मलता कर सकता है। पूजा भी इसलिए की जाती है तथा राग द्वेप रहित अवस्था होनेसे उसकी सत्य स्थायी कीर्तिबन जाती है गुरुओं की सेवा भी रागद्वेप रहित उद्देश्यको लेकर की जानी चाहिए। संमय भी पल सकता है। जब राग द्वेप का अभाव हो। इन्द्रिय सयम में राग का अभाव होगा तभी पल सकेगा तथा प्राणी सयंमके होनेके लिए द्वेप अभाव होना आवश्यक है। द्वेप तभी पैदा होता है। जब किसी विपयमें राग हो। दान धर्म क्यों कहलाता है इसलिए धनसे राग घट गया। उत्सव धर्म के इसलिए है कि राग द्वेप रहित होकर उपदेश सुनेंगे। शास्त्र सुनने इसलिए जाते हैं कि वहां राग द्वेप से छूटने की कथा मिलेगी। रागद्वेप का चक्र अनादि से चल रहा है तभी अनन्त संसार में भटकना पड़ा है संसार से छूटने की यदि कोई औपधि है तो राग द्वेप मोहका अभाव होना। धर्म भी इतना ही है कि रागद्वेप मोहका अभाव होना। राग, द्वेप, मोहसे दूर रहने का उपाय रागद्वेप मोह रहित चिन्मात्र आत्मतत्त्व की उपासना करना है। प्रिय आत्मन। पर्यायबुद्धि छोड़ों पर्याय जब जो होना होगा उस अध्रुवतत्त्वका आलम्बन संसार ही बढावेगा, अतः पर्याय मात्र अपने आपको न विचार कर चैतन्य प्रभुकी उपासना करो।

संसारका जितना भी दुख है उसका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। निर्धनताका दुख क्यो सताता है कि शरीर में आत्मबुद्धि है, आत्मा तो निर्धन नहीं है। सभी दुखोंका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। किसी सभामें अपमान हुआ, मेरी इज्जत गिर गई इन सबका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है।

भूखका दुःख क्यों हुआ शरीर और आत्मा का सम्वन्ध है। उसमें आत्मबुद्धि है। मेरा अमुक व्यक्ति चला गया, मेरा इष्ट वियोग हो गया इन सबका मूलका रण शरीरमें आत्मबुद्धि है। इस तरहके भोले प्राणीको थोड़ा आत्मका भी अनुभव करके देखना चाहिए, मैं अखंड, चिद्रूप, चैतन्य पुञ्जका समूह हूं।

अन्य व्यक्ति आश्चर्य करते हैं, जैन साधु १ बार खाकर कैसे रह जाते हैं? इसलिए किउनकि शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं है। शरीरमें आत्मीयताका विचार नहीं मिलता तो शरीरका सहवासभी नहीं रहेगा कभी। जव तक आत्मामें से शरीर बुद्धिका भ्रम न निकल जावे तव तक शान्ति नहीं मिलेगी। मैं सेठ हूँ, व्यापारी हूँ, वड़ा आफिसर हूँ अध्यापक हूँ आदि के विकल्पजाल छोड़ दिये जावें तो कुछ सुखानुभव होवे रागद्वेष आदि पर भाव हैं। रागद्वेष, मोहादि कर्मका निमित्त पाकर आते हैं। रागद्वेष में मति को लगाना अशान्ति का कारण है। इनसे निवृत्त रहे तो शान्तिमें वृद्धि होगी। परवस्तु विपयक भावमें व पर पदार्थ में शान्ति नहीं मिल सकती। इन्द्रियों का व्यापार वन्द किया जाय तो शरीरमें आत्मबुद्धि दूर होवे। एक सुई दोनों तरफ नहीं सी सकती, उसी तरह उपयोग दोनों कार्य नहीं कर सकता, संसार भी वस जावे और मोक्ष भी मिल जावे। दानियोंके दान पर कंजूसों को आश्चर्य होता है। ज्ञानियों की कृतियों पर एवं विरागियोंके वैराग्य पर मोहियोंको आश्चर्यहोता है। आलसियों को सेवाभावियों रह आश्चर्य होता है कि इन्हें ऐसा क्या भूत सवार हो गया जो सदैव दूसरों की सेवा ही करते फिरते हैं।

ममताके छोड़ने से और ज्ञानके वनाये रहनेसे दो लाभ हैं. या तो मुक्ति मिलेगी या करोड़ गुनी संपत्ति मिलेगी। ऐक भिखारी ३-४ दिन की वासी सूखी रोटी लिये जा रहा है उससे एक सेठने कहा इन रोटियों को तू फेंक दे तथा ताजी पूड़ी साग खाले तो उसे विश्वास नहीं होगा। इसी तरह परद्रव्यके भिखारी को विश्वास नहीं होता कि निज में स्वयं आनन्द है। वह परद्रव्यके ममत्व परिणाम को छोड़ कर स्वद्रव्य पर दृष्टि नहीं जमाता। यह जीव पशु हुआ, तो वहां देखो पशुओं को परिग्रह जोड़ने की ममता नहीं होती है, उन्होंने खाया पिया और चल दिये। पर मनुष्य सदैव परिग्रह इकट्ठा करने की चिन्ता

में सन्तप्त रहता है। किन्तु जिसकी दृष्टिमें शरीर भी अपना नहीं है वह क्या मकान आदिको अपना मान सकता है? जब शरीरमें आत्मबुद्धि हुई तो आत्मानुभव से गिर गया। सब दुखोंकी जड़ शरीरमें आत्मबुद्धि है।

शरीर से आत्मबुद्धि हटने का उपाय क्या है? मन, वचन और काय ये ३ कारण लगे हैं। ये तीनों चञ्चल है शरीर चञ्चल है उससे ज्यादा चञ्चल वचन है तथा वचनोंसे ज्यादा चञ्चल मन है। सबसे प्रथम शरीरके व्यापारको रोको शरीरके व्यापारको रोकनेके बाद मूलवचनके व्यापारको रोको दो तरहके होते हैं (१) वहिर्जल्प और (२) अन्तर्जल्प। वाहरी वार्तालापको वन्द करना वहिर्जल्प को रोकना हुआ। अन्तः शब्दरूप कल्पनाको मेटना अन्तर्जल्पका रोकना हो सकता है। जब वाह्य पदार्थोंको भिन्नमान उनसे रुचि हटावे। मानका व्यापार मन तभी रुक रोकनेके लिए परपदार्थोंको अहितकर मानना होगा। जब मनका व्यापाररुक गया तो संकल्प विकल्प चलही नहीं सकता। ज्ञानतो परिणमन करता है। वह आत्माका परिणमन करता है। मैं ज्योतिर्मात्र हूँ ज्ञानमात्र हूं,शुद्धचैतन्य द्रव्य स्वरूप हूं। यह अनुभव तभी हो सकता है जब शरीरसे आत्मबुद्धि छूटे। कोई किसी की आत्मामें विघ्न करही नहीं सकता, क्योंकि वाह्य पदार्थोंमें मेरी आत्मा ही नहीं है इसलिए वह रुकावट के कारण नहीं हो सकते। आत्मा त्रिकाल अवाधित है, अखंड है, आनन्दमय है, चैतन्यमात्र है अतएव वाहरी वाधा आही नहीं सकती। मानता है मुझे उक्त व्यक्ति ने विघ्न डाल दिया, यह मात्र सोच रखा है। यथार्थमें विघ्न कर्ता तू ही स्वयं है।

परको अपराधी मान रखने की वुद्धि त्याग दे। कौन तेरा हाथ पकड़कर कहता है कि आत्म द्रव्य की रक्षा मत करो। स्वयंकी ही भ्रम बुद्धिसे ही आत्मा को भूलकर परपदार्थोंसे प्रीति कर रहा हूं। ताला डाल कर भी तुझे वन्द कर देवें तो क्या किसी की सामर्थ्य है जो आत्माहितसे च्युत कर सके। अगर तुम स्वयं न चले तो दूसरेकी क्या सामर्थ है जो आगे वढ़ा सके। बुराभी इसका कोई नहीं करता अच्छाभी कोई नहीं करता। जो शरीरमें आत्मबुद्धि करते हैं वे दुखों के पात्र है। जब शरीर में आत्माकी कल्पना हुई तब रिस्तेदारों की प्रतीति हुई और उन्हें अपना मानने लगा। यह मेरी समत्ति है, मैं इसका संरक्षक हूँ, इसके

द्वारा मेरा कार्य चलता है यहि भ्रम बुद्धि है। किसी ने प्रशंसा नहीं की निन्दा करदी, किसीने कहना नहीं माना तो तेरा क्या नुकसान करदिया। निन्दा शरीर की ही तो की तेरी आत्मकी तो नहीं की क्योंकि लोगोंको शरीरही दिखाना है। यदि दुख मिटाना है तो व्यापारमें ज्यादा ध्यान देनेकी अपेक्षा, मित्रों से ज्यादा परिचय बढ़ाने की अपेक्षा कुटम्बियों से अधिक स्नेह करने की अपेक्षा उतने अधिक समय आत्म द्रव्यको जाना जाय। उस आत्माको जाननेका एक ही उपाय है, शरीर, वचन, मनके व्यापार को रोका जाय। यहां वहांकी वातों पर ध्यान ही नहीं दिया जावे। परपदार्थो में जब तक रमा जायगा तब तक निज कार्यका विश्मरण ही रहेगा।

यदि आत्म ज्ञान नहीं है तो उसे सुप्त समझो। जब तक बड़े २ रोग नहीं आ पावें, इन्द्रियां स्वस्थ्य हैं, जराने नहीं घेरा है तब तक आत्मकल्याण करलो सच्चाज्ञान तो अपने अन्दर रहना चाहिए। कुपथ्य सेवनसे बीमारी बढ़ती है, बीमारीसे शरीर अशक्त हो जाता है। तब कुपथ्यसेवन छोड़नेमें हित है सच्चा ज्ञान हमेशा हृदय में रहना चाहिए। केवल उपवास आदि क्रियाओंसे प्राणी संसारसे पार नहीं होता है जितना छुटकारा है वह सब भीतर के भावसे होता है ज्ञानी जीवको बार बार खाने का प्रयोजन नहीं है। ज्ञानकी कमाई सबसे मूल्य वान है। ज्ञानका ऐसाही स्वभाव है, ज्ञानका ऐसा प्राकृतिक परिणाम है जितने कर्म करोड़ों जन्म अज्ञानीके तप तपने से खिरेंगे वह ज्ञानीके एक क्षण में खिर जाते हैं। जिन लड़के लड़कियों की सेवा करते हो। उनके पुण्यसे तुम्हे कमाना पड़ता है, वह आगे जाकर उनके कार्य आवेगा। कमाने वाला सोचता है हमारी स्त्री एवं पुत्रको थोड़ा भी परेशान न होना पड़े अतएव अपनी परवाह न करके जीजान से धन कमाने में परिश्रम करता है।

आत्मज्ञानका अभाव है तो वह सोनेको ही सुख मान रहा है, सोनेमें ही ज्ञानधन बाहरी चोर चुरा ले जाते हैं। जिससे आत्माका ज्ञान हो उसे हम जाग्रत अवस्थामें कहेंगे। कितना ही कोई किसी से प्रेम करे तो क्या प्रेम करने वाला उसका धर्म भिना देगा। तथा उसका फल प्राप्ति कर्ता वह हो जायेगा

इसमें का भान जबतक शरीरमें है। तब तक राग द्वेष आपग्द। इसका तो भान करो मैं तो अमूर्त ज्ञान मात्र हूँ, मैं तो ज्ञान स्वरूप हूं। आत्मा कैसी विलक्षण है कि इसकी उपमा भी नहीं दी जाती है जहां रागद्वेष की सामग्री मौजूद हो उसकी उपमा दी जाती है। शत्रु मानने में भी दुर्गति है। जगतके इन जीवोंने क्या मुझे देखा है, जब मेरी आत्मा अमूर्तिक है तो दूसरे क्या देखेंगे मेरे तो कोई शत्रु मित्र नहीं है।

जीवकी तीन दशायें होती हैं। १ वहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। देह और जीवको एक मानने वाला वहिरात्मा है (२) देह मे भिन्न जो अपनी आत्मको जाने वह वह अन्तरात्मा है तथा जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं वह परमात्मा है। वहिरात्मा पने को छोड़ने से लाभ है। अन्त रात्माका ध्यान करना चाहिए। परमात्मा होनेका यही उपाय है।

एक राजमहलमें साधु रहता था, उसीमें एक राजा रहता था एक दिन साधु और राजा दोनों की मौत हो जाती है। तब जंगलमें यह समाचार भेजा गया और उन्हें बुलाया गया। तो राज ऋषियोंने कह दिया, राजा स्वर्गमें गया है और साधु नरक में गया। क्योंकि साधुको तो राजाकी संगति मिली और राजाको साधुकी संगति मिली।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि यहाँ के मनुष्य भवसे मरकर कहाँ उत्पन्न होंगे ? उत्तर सम्यक्त्व सहित मरण होने मपर कर्म भूमिके मनुष्य देवगतिमें जायगा या भोग भूमि या मनुष्य तिर्यञ्चमें। पर सम्यकत्व रहित मरण होने पर विदेह क्षेत्रमें जा सकता हैं यह शास्त्रोंका नियम है। यहां वहां से दीक्षा धर मोक्ष भी जा सकता है।

जीव के कषाय भावको निमित्त पाकर कर्म प्रकृतियां बंधती है। वह कर्म प्रकृतियां आत्मा की नहीं है। तब शरीर के जो और अवयव हैं वह आत्मा के कैसे हो सकते हें। वर्ग, वर्गणायें और स्कन्ध भी आत्माके नहीं है। इनका उपादान पुद्गल है। उसी तरह आत्मामें आने वाली तरङ्गे भी आत्मा की नहीं है। शुद्ध आत्मा परद्रव्यों से रहित होता है। जिनमें इस आत्मतत्त्व की समझ उन्हींके अनुभव में वह आता है। अब आगे कहते हैं कि योग स्थानादिक भी आत्मा के नहीं है।

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण वंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाना णमग्गणट्ठाणया केई।

जीवके योगस्थान कुछभी नहीं है। आत्मामें योग है आत्मामें कर्मके आनेका कारणभूत शक्ति है उसका नाम योग है। जितनी शक्ति है वह सब स्वाभाविक है। उस योगके परिणामोंमें कोई स्वाभाविक होता है कोई वैभाविक होता है। वस्तुतः आत्मामें योगोंका भी भेद नहीं है। योगमात्रसे जो आस्रव है उसे ईर्यापथ आस्रव कहते है। कषाय सहित योग होनेको सांपरायिक आस्रव कहते हैं। आत्मा इन सबसे शून्य है। प्रकृति वन्धके स्थान, स्थिति वन्धके स्थान और प्रदेश वन्धके स्थान यह जीवमें नहीं हैं। एक शुद्ध दर्पण है उसमें लाल, पीला, नीला, हराकी उपाधि नहीं है। इसी तरह इन वन्धोंके स्थान जड़ स्वभाव है वह आत्मामें नहीं है। तथा उदयस्थान भी आत्मामें नहीं है। यद्यपि जीव उपादान वाले स्थान जीवमें हैं किन्तु औपाधिक स्थान स्वभावका विस्तार नहीं है। थोड़ी प्रकृतियों का उदय हुआ, अधिक प्रकृतिका उदय हुआ. इनका उत्पत्ति स्थान न जीव है और न पुद्गल है।मन्द फल, तीव्र फलये उदय स्थान भी जीवके नहीं है। उन फलोंमें जो उदय स्थान है वे जीवके नहीं है; वे तो सम्वन्ध पाकर हुए हैं।

मार्गणा स्थान जीवमे नहीं है। खोजने के स्थान जीवके हुआतो करते हैं किन्तु उनका कार्य नहीं। जीव की मनुष्य गति, तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति भी नहीं हैं। हाना कि जीव इनमें जा रहा है,शुद्ध दृष्टि से तो जीव इनमें नहीं है। कोई आदमी पहले बड़ा सदाचारी होवे, वादमें दुराचारी हो जाय, तो अन्य मनुष्य उससे कहते हैं तुम पहले के नहीं रहे। लेकिन मनुष्य तो वही पूर्वमें था वही अब है शुद्ध जीव शुद्ध है। कोई व्यक्ति सोना लाया, उसमें १४ आने भर सोना है तथा २ आना भर पीतल है। तो सोना खरीदने वाला कहता है, यह क्या पीतल ले आये। क्योंकि उसकी शुद्ध दृष्टि असली सोना खरीदने की है। अतएव वह दो आना पीतल मिश्रित सोनेको भी पीतल कह देता है। सहजतत्त्व (चैतन्य) के अतिरिक्त सभी भाव या परिणमन अनात्मा है।

शुद्ध जीवमें इन्द्रियों की भी कल्पना नहीं होती है। एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय,

तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पांच इन्द्रिय ससारी जीवको कहते हैं। जीवतो शुद्ध चैतन्यमात्र है योगी जंगलमें रहते हैं, लेकिन किसके बलपर, वह ध्यानके बलपर जंगलमें रहते हैं। उनका उत्तम उपयोग शुद्ध चैतन्यसे बात करता रहता है। काय मार्गणाभी जीवमें नही हैं। पृथ्वी कायिक, जल कायिक, अग्निकायिक, वायु कायिकऔर वनस्पतिकायिक जीवमेंनहीं है। कायरहित अवस्थाभी जीवकी नहीं है। कर्मका निमित्त पाकरये शरीर सहित हुए है जीवतो वस्तुतः शरीर रहित है इसका तात्पर्य है कि जीव एक चैतन्य मात्र है। किन्तु अफसोस है कि अपने हो अज्ञान अपराध वश यह जीव इतना चक्कर में पड़ा है कि वह इन विकल्प जालोंसे निकल ही नहीं पाता है। यदि सर्व विकल्प छोड़कर शुद्ध चेतनाका अनुभव करेंतो क्लेशमुक्त हो सकता है।

योगमोर्गणाभी जीवकी नहीं है योग—मन, वचन, कायके प्रवर्तनसे होने वाले आत्म प्रदेश परिस्पन्द को कहते हैं। इनका सम्वन्ध पाकर आत्मप्रदेश हिल जाते हैं। जिसके यही अनुभव रहता है मैं पुरुप हूं, मैं स्त्री हूं, मैं वालक हूं वह आत्म तत्त्व से काफी दूर है संस्कारके वशी भूत होकर वह ऐसा समझता है। आत्मा न पुरुप है और न स्त्री है, न नंपुसक लिंग है वह तो चैतन्य मात्र है। पुलिङ्ग, स्त्रीलिंग, नुपुंसक लिंग भाव भी जीवके नहीं हैं। उपाधिको निमित्त पाकर भ्रम से जीव अन्यको अपना मान रहा है।

कपायमार्गणा—क्रोध, मान, माया, लोभ भी मेरे नहीं है। मेरे नहीं है तभी तो मैं इन्हें छोड़ सकता हूँ। जव लोभ मेरा नहीं है तो जिन पदार्थों को देखकर लोभ होता है, वह मेरे कैसे हो सकते हैं? छोटा मोटा ज्ञानभी मेरा नहीं वह तो पैदा हुआ नष्ट हो गया। ज्ञानके विकास मेरें। नहीं ज्ञानमार्गणा भी ८ प्रकारकी होती है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभङ्गापधिज्ञान। ये सव ज्ञानके परिणमन हैं, अतः क्षणिक हैं। केवलज्ञान भी क्षणवर्ती है, किन्तु एक केवलज्ञान पर्याप्तके वाद केवलज्ञान पर्याय ही होता है,अनन्तकाल तकके वलज्ञान पर्यायें होती चली जावेंगी अतः नित्यका व्यवहार कर दिया जाता है।

निश्चयतः जीव सनातन एक चिन्मात्र है, अतः ये ज्ञानमार्गणायें भी जीव नहीं हैं।

संयम स्थानभी मेरा नहीं। हिंसा दया आत्माकी नहीं। इनसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र निरपेक्ष तत्व मेरा है हितकर तो उसकी दृष्टि है। किसीको उच्च पदाधिकारी बना दिया जावे और वह होशियार नहीं निकला तो कोई कहता है कैसे बुद्धुको उच्च पदाधिकारी बनादिया। यदि ज्ञानभावको तो सम्हाला नहीं और बाह्यसंयम धर लिया तो वास्तविकता नहीं आ जायगी बाह्यसंयमसे तो बाह्यसंयम तो है ही क्या, अन्तासंयम स्थान भी जीवके नहीं है।

दर्शनमार्गणाभी जीवकी नहीं है। दर्शन ४ तरहका होता है। (१) चक्षुदर्शन (२ अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवल दर्शन। इन्द्रिय और मनके द्वाराजो ज्ञानहो उससे पहिले होने वाले को चक्षु दर्शन कहते हैं। बाकी चार इन्द्रियोंसे जो ज्ञान हो उससे पहिले होने वाले दर्शनका अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञानसे पहले होने वाले ज्ञानको अवधि दर्शन कहते है केवलज्ञानके साथ होने वाले दर्शन को केवल दर्शन कहते हैं। दर्शनकीप्रवृत्ति जीवकी नहीं है तो चक्षुदर्शनादि कैसे जीव का हो सकता है।

लेश्या ६ तरहकी होती है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल यह भी जीवकी नहीं हैं। इनके समझनेका एक दृष्टान्त है—एक आमका वृक्ष काफी आमोंसे लदा था। उसको देखकर कृष्ण लेश्या वालाव्यक्ति कहता है, इसे जड़से काटकर आम खालें सब। नील लेश्या वाला कहता है इसका तना काटकर आम तोड़ लेवें। कापोत लेश्या वाला कहता है डाले काट कर फल तोड़ लेवें। पीत लेश्या वाला कहता है टहनी तोड़कर फलखालें। पद्मलेश्या वाला कहता है पके पके आम तोड़कर ही अपना काम निकाल लेवें। और शुक्ल लेश्या वाला कहता है नीचे जो फल गिरे पड़े हैं उन्हींको खाकर सन्तुष्ट रहेंगे। यह सब कर्मकी उपाधि पाकर हुए हैं। गति, इन्द्रियां भी दूसरोंसे मांगकर लिए हुए हैं। अन्यत्रसे आये अन्यत्र चले जावेंगे। संज्ञी, असंज्ञीपना भी जीवका स्वभाव नहीं है और न यह जीवमें भेद हैं। आहारक, अनाहारक भी जीवका भेद नहीं। यह जीव आहार ग्रहण करता ही नहीं तब

आहारक कैसे हो सकता है तथा अनाहरक कहनेका भी अवकाश कहां स्पर्श तुम्हारी आत्माका नहीं है। जो उपद्रव आत्मामें लग गया है उसीकी हम रक्षा करते हैं बाहरी वुद्धि दूसरेके पहरेदार वनकर रक्षा करता हुआ भी यह शरीर, प्रसन्न होता है। यह सब जीवके नहीं, शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा है। यह कार्य, मैंने किया, वनवाया अथवा इस तरह कहना आपके दासने यह मन्दिर वनवाया है, यह सब जीवके स्वभाव नहीं है। जब कर्मही जीवके नहीं हैं तो अन्यपदार्थ जीवके किस तरह हो सकते हैं ?

अव आगे कहेंगे कि स्थितिवंधस्थान आदि भी जीवके नहीं हैं:—

**णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेस ठाणा वा।**
**णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलाद्धि ठाणा वा ॥**

स्थिति वंध जीवका नहीं। कम, ज्यादा समय तक कर्म रहें आत्मामें यह भी स्वभाव जीवका नहीं। संक्लेश स्थान जीवका नहीं क्योंकि कर्मके तीव्रोदय को पाकर आत्मामें जो संक्लेश भाव होते हैं वह संक्लेश कहलाता है। यह संक्लेश उपाधि पाकर हुआ है। यद्यपि यह आत्माही का परिणमन है किन्तु औपाधिक है विशुद्धिस्थान भी जीवके नहीं। पूजा करते हुए धर्म करते हुए भी यह मेरा नहीं ऐसी प्रतीति करो जो यह मानते है, यह मेरा है, उन्हें जरा जरासी वात पर गुस्सा आ जाता है। जिन्होंने यह सोचा मैंने कुछ नहीं किया उनके कषाय भाव रहता नहीं। जैसे संक्लेश और संक्लेशस्थान जीवके नहीं वैसेही विशुद्धिस्थान विशुद्धि परिणामभी जीवके नहीं। सेवा भाव में चित्त लगने लगा शुद्धभाव होने लगे यह भी जीवके नहीं। जैसे कोई चला जा रहा है और उसे सुगन्ध दुर्गन्धका कोई ज्ञान नहीं होता, सुगन्धि भी हो तो उसे पर्वाह नहीं और दुर्गन्धि भी हो तो उसे पर्वाह नहीं तो वह वहां उसके ज्ञाता रहते ज्ञानी जीव संक्लेशके भी ज्ञाता हो जाते हैं और विशुद्धिके भी ज्ञाता हो जाते हैं। मन्दिरमें आना, स्वाध्याय करना, पूजन करना, उपदेश सुनना आदि वातें खेत को जोतना हुआ और जिन्हें मध्यमें वीज वोनेका ध्यान नहीं तो वैसे सदैव जोतते रहनेसे कोई लाभ नहीं कोई आदमी नाव चलाता होवे वह कभी इस तरफ ले जावे और कभी उस तरफ ले जावे, लेकिन किनारे पर लगना जिसका उद्देश्य ही नहीं, वह क्या किनारे पर लगेगा ? धर्म तो

मेरा उतना है जितने समम आत्म स्वभावपर दृष्टि है। मनुष्य क्या सभी जीव वस्तुतः स्वार्थी हैं, सभी अपनी २ कषायका पोषण करते हैं। कोई किसी से मित्रता रखता है कोई किसीसे शत्रुता रखता है, यह कषायको बढ़ाने वाला कार्य हुआ।

मैं और हम नामकी एक कथा है दो मित्र चले जा रहे थे। रास्तोमें चलते २ मित्रको एक रुपयेसे भरी थैलियाँ मिल गईतव वह कहता है 'मुझे तो एक थैलियां मिल गई" तब दूसरा मित्रकहता है ऐसा मत कहो। यह कहो "हमें थैलियां मिली अर्थात दोनोंको एक थैलियां मिली। इतनेमें थैलियां वाले ने देख लिया और पकड़ा गया तो कहता है अब हम फंस गये तब दूसरा बोला यह न कहो कि हम फंस गये पर यह कहो "मैं फंस गया"। इसीलिए कहा है "खीर को सोंज महेरीं को न्यारे"। अपना निजका कुछ उपकार करते नहीं। दूसरेका भी उपकार करते नहीं। तथा गुणोंको दोष बतानेमें बड़े पटु होते हैं इसीसे देशमें भार रूप कहलाते हैं।

जीवके संयम लब्धि के स्थान व्यवहारसे होते हैं। निश्चयसेहीं होते हैं। मुनिको कोल्हूमें पेरा जा रहा है वह ऐसा सोचता है कि हे आत्मन। तूने महा-व्रत धारण किये हैं मुनि होकर समता धारण करना चाहिए, शत्रुको शत्रु मत मान, कोई किसी का कुछ नहीं बिगाड़ता है। ऐसा सोचने वाला मुनि द्रव्यलिंगी है मिथ्यात्वी है, पर इसके पर्याय बुद्धिके विपरीत सोचकर कि मैं अमूर्त चैतन्य मात्र हूं, इस तरह सोचकर निर्विकल्प समाधिमें लीन हो जाय तो वह अनुकूल कार्य करना है। चैतन्यमात्र आत्माके भाव है, इसके अतिरिक्त आत्मामें कुछ विकार नहीं। मुनि होकर थोड़ी २ बात पर क्रोध आता है, बादमें सोचता है मैं मुनि हूँ, यह मुझे करने योग्य नहीं आदि विचारे तो समझना चाहिए उसकी दृष्टि केवल पर्याय बुद्धिपर है। मुख से बोलना अन्य बात है प्रतीतिमें न आना अन्य बात है। क्या मुनि यह नहीं कहेगा मेरा कमंडल उठा लाना, तथा शिष्यों को भी दंड देगा, उपदेश भी होगा किन्तु उनमें ममत्व परिणाम नहीं करेगा शुभ भावरूप आत्मा की प्रतीति नहीं करता अतएव जीवमें संयम वृद्धि स्थान

नहीं है ।

बुन्देलखण्डमें कटेरा नामसे एक ग्राम है । वहां पर एक काफी धनवान सेठ रहता था । राजा भी उसका आदर करता था । इतना सब होने पर नमक, गुड़, तमाखू आदि पीपर लादकर २ घन्टा गांवोंमें वेचने जाया करता था, जिसे बंजी कहते हैं । उससे किसीने कहा आऐ इतने अधिक धनवान होते हुए बंजी क्यों करते हो? तब कहता है आज हम सेठ हैं कल न रहें तो हमें दुखी तो नहीं होनापड़ेगा । जिनके विवेक नहीं ऐसे धनियो के पापोंदयमें बुरी हालत होती है । पहले शानमें आकर सोनों की परवाह नहीं की, सोनेका गाना रखने भी नौकर जाये तथा सेठ जी को तोलने की फिक्र नहीं, तथा जब दिवाला निकला खपरे भी गिनकर अपने हाथ से दिये । खैर ज्ञानी जीव सोचता है, इन्द्रियोंका व्यापार वन्द करके शुद्धात्मानुभवको अपना विषय बनाऊं । ऐसा जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र वृत्तिको अपना नहीं मानता वह पर पदार्थोंको अपना कैसे मानेगा ज्ञानी चैतन्य मात्र अपनी प्रतीति करए ।

स्वाध्याय करते रहना परम कर्तव्य है दुकानसे निवृत हुए स्वाध्यायमे लग गये । व्यापारी कार्य करते हुए जब भी ग्राहकोंसे पीछा छूटा तव स्वाध्यायमें र हो गये । ऐसी आदत बनाइये । श्रुतज्ञान ही केवल ज्ञानका कारण है । ज्ञानका यत्न अवश्य करो एक सेठ और सेठानी थे । सेठानी प्रतिदिन शास्त्र सुनने जाया करती, पर सेठजी नही जाते । एकदिन सेठानी बोली शास्त्र सुनने चला करो सेठजी शास्त्र सुनने गये, शास्त्र सभा खूब भरी थी अतएव सबसे पीछे जाकर बैठ गये । सेठजी को नीद आ गई, इतनेमें कुत्ता आया और टाँग उठाकर मुंह में पेशाब कर गया । मुंह खुला था शास्त्र सभा समाप्त हुई तब सेठजी भी जल्दी उठे, उनका मुंह खारा हो रहा था । घर आकर सेठजी सेठानीसे बोले आजकी शास्त्र सभा तो खारी लगी । सेठानी बोली फिर से सुनने चलना । सेठानी जीने एक गिलासमें शक्कर का शर्वत तैयार कर लिया और साथमें लिये गई । सेठजी शास्त्र सुनने गये, उन्हें फिर से नींद आ गई, तव सेठानी जी ने मुंह खुलेमें शर्वत के गिलाससे कुछ शर्वत डाल दिया । सेठजी उठे जीव फेरते हुए अरो

सोचने लगे आज कहेंगे कि आज की शास्त्र सभा बड़ी मीठी लगी, खुशीका पारावार न था। घर हर्षसे आकर उक्त समाचार कह दिया। अब तो रोज जाने की इच्छा हुई। एक दिन वर्णन निकला देवताओं की छाया नहीं पड़ती उसी दिन उनके घर चोर डाकू घुस गये। सेठजीकी नींद खुल गई और सोचने लगे शास्त्रमें तो सुना था देवों की छाया नहीं पड़ती, इसकी तो छाया है अतएव उन्हें भगा दिया। तो सोचा शास्त्र सुननेके प्रभावसे हमारी चोरी नहीं हो पाई। उसी तरह शास्त्र शुरुमें कठिन लगता है, बादमें मीठा लगता है, तथा उसके रसिक जन कर्म रूपी चोरों को भी भगा देते हैं। यह है शास्त्र सुननेका स्वाध्याय करने का निजपर प्रभाव।

आत्मा का जन्म नहीं हुआ है क्योंकि वह अमूर्तिक है। किसी भी आत्मा का नाम नहीं है। कालाणुमें भी आत्मा का कोई नहीं है। जाती मात्रकी अपेक्षा ब्रह्म है या आत्मा है। निश्चय नपसे जातिमें सभी एक समान आ जाते हैं। निश्चय से उसका कोई नाम नहीं। जन्म मरण जितने भी होते हैं वह सब कर्मकृत लीला है। प्रदेशोंमे परिणमना आदि आत्मा स्वभाव नहीं। आत्माका नाम नहीं, जिनका नाम नहीं उसमें किसका सहारा लेकर रागद्वेष किया जायगा जिसका नाम होगा उसमें इष्टानिष्टकी कल्पना हो जायगी। बौद्ध नामको कर्म का कारण मानते हैं अगर उसका नाम कहो चैतन्य है, जीव है, आत्मा है तो उसका देख कर नाम बताया। प्राणों के द्वारा जीत है इसलिये इसका नाम रख लिया। जब नाम नहीं तब यह बताओ किसका आत्म पुरुप है। किसकी स्त्री है है। आत्मामें न पुरुषपना है और न स्त्रीपना है और न नपुंसक पना है। अस्मद् शब्द संस्कृत में है तथा युष्मद् शब्द है इन दोनों के कोई लिंग नहीं। अस्मद् अर्थात हम और युष्मद् अर्थात् तुम। अहम् मैं और त्वम् तू (तुम), यह मैं और तुम स्त्री व पुरुष अपने लिए व दूसरे के लिए समान तौरसे प्रयोग करेंगे। हिन्दीमें पुरुष एवं स्त्री समान रूपसे अपने लिए मैं तथा दूसरे को तुम कहेंगे। तथा अंग्रेजी में भी आई (I) और यू (you) स्त्री एवं पुरुष दोनोंमें समान तौर से चलता है। लेकिन स्त्री अपने यह नहीं कहती "मैं यहाँ आया" वह

सदैव आई कहती है, तथा पुरुष भी नहीं कहेगा 'मैं यहां आयी" वह अपने लिए आगया कहता है देखो तो कैसा पर्याय गत संस्कार पड़ा। हिन्दीमें मैं के साथक्रियामें फरक आ जाता है किन्तु मैं या तुममें लिग नहीं। जब शब्दमें लिंग नहीं तो आत्मामें न पुरुषत्व है न स्त्रीत्व है न नपुंसकत्व ही है वह तो चैतन्य-मात्र है। ऐसे निरपेक्ष स्वभाव वाले आत्माका जो ज्ञान है वही नमस्कार करने योग्य है। वही दर्शन है, वही ज्ञान है और वही चारित्र है। आचार भी वही है। शुद्ध सामान्य चैतन्य की दृष्टि जो आत्माका स्वभाव है। वही शुद्ध है, उसमें क्रिया कारक का चिन्ह नहीं। वही एक परम ज्ञान है। शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि हो गई वही चरित्र है।

मनुष्य संयोग को तड़फते हैं, लेकिन दुःखका कारण संयोग है। अपने आप को जानो आत्मामें रति करो। भ्रममे रस्सीको सर्प मान लिया। दुःखी हो जाते हैं। उसी तरह अज्ञानी जन पर पदार्थों को अपना मान रहे हैं व दुःखी हो रहे हैं। आत्मा युक्तियोंसे नहीं जाना जा सकता है। अनन्त दर्शन है, अनन्तज्ञान अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आत्मा में ही है, उन्हें खोजने के लिए यहां वहां भटकने की जरूरत नहीं। शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा का स्वभाव है।

सबसे उत्तम नमस्कार है आत्मद्रव्यको नमस्कार करना नमने का अर्थ है झुकना, भैया! आत्मा की ओर झुको। अपना जो स्वरूप है। उसपर दृष्टि जानेसे राग नहीं उठता क्योंकि राग द्वेष रहित उसका स्वरूप ही है। आत्म स्वरूप ही है। आत्मा स्वरूपकी दृष्टि से समता होती है। भगवानका आश्रय लेनेसे भी राग हो जाता है और अन्य पदार्थोंकी तो कथा छोड़ो। तो सबसे ऊंचा तत्त्व है आत्मा और वही आत्माका स्वरूप है। अपने आपमें ठहरने का नाम स्वास्थ्य है। योग का अर्थ अपने आपमें जुड़ जाना, उपयोग का अपने आपमें लगा देना चित्तका रुकना और समता एक ही बात है। शुद्धोपयोगका अर्थ राग द्वेष से रहीन स्थिति है। शुद्ध चैतन्य निगाहमें है तो वहां समता है। राग द्वेष मोह न हो वहां धर्म है। परमात्मा पर एक दृष्टि है तो वहां राग उठेगा। पूर्ण निर्विकल्पका ज्ञान हो गया तो वहां आत्मसाक्षात्कार हो गया।

शुद्ध तत्त्वोंकी दृष्टि बहुविकल्पोंको उत्पन्न नहीं करती इस लिए शुद्धतत्त्व पर दृष्टि जमाना चाहिए। वेदान्तिक लोग ब्रह्म व मायाको मानते हैं। बौद्ध लोग आत्माको क्षणिक मानते हैं या क्षणिक चित्तको मानते हैं। जबकि जैन सिद्धान्तने यह माना "व्यक्तिगत सत्तामें रहने वाला जो सामान्य स्वरूप है वह शुद्ध तत्त्व है। जैसे आत्मामें शुद्ध तत्त्वमें रहने वाला ज्ञायक स्वरूप, चेतनामात्र। परमाणुओंमें रहने वाला शुद्ध पुद्गल तत्त्व है। ऐसे शुद्ध तत्त्व की दृष्टिमें अन्य विकल्प नहीं होते। उस जीवके स्वरूपमें न क्षायिक भाव है न केवल ज्ञान है। जो कि किन्हीं पर्यायको कहना, सामान्य दृष्टिमें नहीं आता, द्रव्य दृष्टिमें नहीं आता। अध्यात्म शास्त्रोंमें इनका जितना महत्त्व है वह सारे वर्णनमें नहीं रहेगा यदि नय दृष्टि, द्रष्टाकी शुद्धदृष्टि सामान्य दृष्टि न लगाई जाय। किन्तु पर्यायों पर दृष्टि न देना। मैं जो हूं वह है भगवान जो मैं हूं वह है भगवान। द्रव्यका द्रव्यत्त्व उतरता नहीं। पर्याय क्षणिक है वह ऊपरी अन्तर है। वे विराग यहां राग वितान। वे अत्यन्त विराग हैं, यहां राग का फैलाव चल रहा है।

जीवमें न संयम है, न तप है, न व्रत हैं। संयम, तप, व्रतोंको अपना मान बैठे तो वह अपने कुछ नहीं। ज्ञानी जीव चैतन्य स्वरूप अपने आपको भी अविशेषरूपसे अनुभव करने में विकल्प ही होते है। प्रमाणसे अपनेको सर्व प्रकार समझ जावे। समझनेके लिये एक वैज्ञानिक पद्धति व एक आध्यात्मिक होती है। वैज्ञानिक पद्धतिमें तो हेय उपादेयकी चर्चा नहीं होती केवल वस्तु का हर तरह ज्ञान करना मात्र लक्ष्य रहता है। आध्यात्मिक पद्धति वह है जिसमें परसे हटे निजात्म पर लग जावे। इसमें हेयोपादेयपर दृष्टि रहती है।

जैसे पानी दूध मिले हुए हैं। एक गिलासमें पानी और दूधका अब, गाढ़ हो गया, इतना हो जाने पर भी पानीका स्वरूप पानीमें हैं. दूधका स्वरूप दूधमें है। पानी और दूध मिल जाय तो किसीका यथार्थ स्वाद नहीं, फिर भी वह एकमें एक नहीं हुए है, दोनों की भिन्न भिन्न दशा है, स्वरूप एक नहीं हुआ। क्षीरमें क्षीरत्व है वह क्षीरमें व्याप्त है। सलिलका गुण सलिलत्वमें

वाले भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हैं। ये दक्षिण देशके रहने वाले थे। इनका वड़ा महात्म्य था ये जव पालनेमें भूलते थे उस समय इनकी माँ झुलाते समय गीत गाती थी।

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंज्जनोऽसि, संसार मायापारिवर्जितोऽसि संसारस्वप्न त्यज मोह निद्रां श्री कुन्दकुन्द जननीदमूचे। श्री कुन्दकुन्दकी मां कहती है हे कुन्दकुन्द तू शुद्ध है, बुद्ध है निरञ्जन है, संसारको मायासे रहित है संसारका स्वप्न व इस मोह नींदको छोड़।

केवल शुद्ध चैतन्य तत्त्वकी दृष्टिमें कोई क्लेश नहीं, कोई विपत्ति नहीं। शुद्ध चैतन्य तो मात्र नित्य ज्योति है।

**णेव य जीव ट्ठाणा ण गुण ट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।**
**जेण दुएवे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा। ५५॥**

वहां तो जीवके जीव स्थान भी नहीं है। जीवसमास १४ होते हैं। (१) एकइन्द्रिय सूक्षम जीव (२) एकेन्द्रियवादर जीव (३)दो इन्द्रिय जीव (४) तीन इन्द्रिय जीव (५) चार इन्द्रिय जीव (६) पांच इन्द्रिय सैंनी (७) पांच इन्द्रिय असैंनी। वादर जीव वह कहलाते हैं जो शरीरअन्य पदार्थो सेटकरा सके या रुक सकेअथवा वादरके उदयसे जो हो वह वादर शरीर हैं। एव सूक्ष्म जीव जो शरीर अन्य के द्वारा नहीं रुकते उसे सूक्ष्म कहते हैं। अथवा सूक्ष्म नामकर्मका उदयसे जो शरीर होवह सूक्ष्म शरीर हैं। ये सातोंजीव पर्याप्त और अपर्याप्तकके भेदसे दो तरह के होते हैं। इस तरह १४ जीव समास होते हैं। जीव जव तक शरीर वननेके पूर्व तक रहता हैं। तव तक अपर्याप्त कहलाता है। तथा जव शरीर वनने की शक्ति पूर्ण हो जाती है तो पर्याप्त कहलाता है। मनुष्य गति जीवके नहीं है। अनादिसे अनन्त काल तक सदा रहने वाला जीवका स्वभाव हैं। आत्मामें श्रद्धा और चरित्र गुण होते हैं। केवल एक मिथ्यात्व पर्याय वुद्धि रह गई है। भरत चक्रवर्ती जव दिग्विजय करके

वृषभाचल पर्वत पर गये तो वहां नाम खोदनेको थोड़ी भी जगह नहीं मिली तब वह सोचते हैं। इतने चक्रवर्ती हो गये हैं मैं थोड़ा ही हुआ हूं। तब वहां मान शिथिल हो जाता है। और वे अनुभव करते हैं—खुदका प्रभु खुद यह स्वयं आत्मा है। गुण स्थान भी जीवके नहीं है। किसी का एक बच्चा था, वह तास खेलकर आया। तब किसी व्यक्तिने बच्चे की मां से शिकायत की तेरा बच्चा तास खेलने गया था। उस समय उसकी मां उत्तर देती है मेरा बच्चा तास खेलना नहीं जानता, दूसरे लड़के ने अपने साथमें खिलाया सो वह खेला यहां भी मां अपने बच्चे को शुद्ध ही देखना चाहती है। जीवमें अन्य पदार्थ का सम्बन्ध नहीं है।

जीव गुण स्थान भी नहीं हैं। गुणोंके स्थान अपूर्ण दृष्टिमें बनते हैं। जीव निश्चयतः परिपूर्ण है। जब मोहनीय कर्म की विशिष्ठ प्रकृतिके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की दृष्टि करके देखा जाता है तो आत्मामें इन गुण स्थानों की प्रतिष्ठा है। सो न तो उदयादि जीवके हैं और न गुण स्थान ही जीवके हैं।

दर्शन मोहके मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व गुण स्थान होता है। दर्शन मोहके उदय उपशम क्षयक्षयोपशम के बिना सासादन सम्यत्व नामक गुणस्थानहोता है। दर्शन मोहकी सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें(जोकी क्षयोपशमवत् मन्दानुभागरूप है) सम्यग्मिथ्यात्व गुण स्थान होता है। दर्शन मोह व अनन्तानुबन्धी ४ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके होनेपर व साथ ही अप्रत्याख्यानावरणके उदय होनेपर अविरतसम्यतव गुण स्थान होता है। यदि अप्रत्याख्यानावरणका अनुदय व प्रत्याख्यानावरणका उदय हो तो देश विरत गुण स्थान होता हैं। यदि प्रत्याख्यानावरणका अनुदय हो तो संज्वलन् के उदयमें।

धर्म कार्य आ पड़े तो उसमें भी खर्च न किया जावे उसे अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं। मैं महान धर्मात्मा हूं, इस तरहके अहङ्कार आना अनन्तानुबन्धी मान है। धर्म कार्य करते हुए मायाचारी आना अनन्तानुबन्धी माया

विना मात्र स्वभावसे ही परिणमन हो। किन्तु अभी जिनका वर्णन किया गया है उनमें से कुछ तो ऐसे हैं कि वे प्रकट परद्रव्य रूप हैं और कुछ ऐसे हैं जीवकी शक्तिके परिणमन तो हैं लेकिन हैं औपाधिक है। इन सबको जीवके यों कहे गये हैं कहीं २ कि एक क्षेत्रावगाह अथवा निमित्तनैमित्तिक भाव आदि कोई सम्बन्ध देखा जाता है। ये सम्बन्ध किसी के स्वरूपमें तो है नहीं किन्तु द्रव्य द्रव्यों ऐसा नैकट्य अथवा अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है अतः व्यवहार से उन्हे कहे गये हैं

अब इन उक्त सबमें जो जीव से भिन्न पर द्रव्य रूप है। ये है वर्ण, गन्ध स्पर्श, रस, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा ,स्पर्द्धक व स्थिति बन्ध स्थान जो दो दो भेद रूप हैं जिनसे वे भाव रूप तो जीवके परि-णमन रूप पड़ते हैं और द्रव्य रूप पुद्गलके परिणामन रूप पड़ते हैं वे ये हैं प्रत्यय, अनुभागस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणा स्थान व जीवस्थान। अब उन्हें कहते हैं जो कि हैं तो जीव के परिणमन , परन्तु हैं औपाधिक वे ये है राग, द्वेष, मोह, अध्यात्मस्थान, योगस्थान, संक्लेश स्थान, विशोधिस्थान संयमलब्धिस्थान व गुणस्थान।

ये सब व्यवहार नयसे जीवके कहे गये हैं, निश्चय नयके आशयसे वर्णको आदि लेकर गुण स्थान पर्यन्त ये सभी भाव जीवके नहीं हैं अर्थात् इनमें से कोई भी भाव जीवका नहीं हैं।

अब श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं जीवका वर्णादिक के साथ सम्बन्ध परमार्थ से नहीं है, निश्चयसे वर्णादिक जीवके नहीं हैं।

**एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेयव्वो।**
**ण य हुंति तस्सताणि हु उवओगगुणाधिमो जम्हा ।५७॥**

जैसे पानी और दूध ये मिल कर एक तो नहीं हो गये, केवल दोनों एक जगह हैं, पर एक नहीं हैं। इसी तरह आत्मा और शरीर दोनों एक जगह हैं पर दोनों एक नहीं हुए हैं। शरीर सबका आत्मा से भिन्न है। क्योंकि सबमें

असाधारण गुण हुआ करते हैं असाधारण गुण उसे कहते हैं जिससे मुख्य पदार्थ जुदा किया जावे। जितने द्रव्य होते हैं वे अपना असाधारण गुग जरूर रखते हैं। जैसे आत्मामें चैतन्य स्वभावका होना तथा पुग्दल पिण्डमें एक गुण ऐसा है जो पुद्गलको छोड़कर अन्यत्र पाया ही नहीं जाता वह गुण स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप मूर्तपना है। धर्म द्रव्यमें असाधारण गुण जीव पुद्गलों को चलनेमें सहायक होना। अधर्म द्रव्यमें असाधारण गुण जीव पुदग्लोंको ठहरानेमें मदद करना है। आकाश का असाधारण गुण है। द्रव्यों को अवकाश देना। काल द्रव्यका असाधारण गुण परिणमन करना है। जैसे समय बीतनेपर संसारीसे मुक्त हो जाना, मिथ्यात्वसे सम्यक्त्व हो जाना, काल व्यतीत हुए विना तो नहीं। पूंजीपर व्याजभी समय बीतनेपर मिलताहै। यहांजीव औरदेह एकस्थान में है जीवका गुण चेतना है और देह का असाधारण गुण स्पर्श रूप रस गन्ध का होना है। दूध और पानी इन दोनों के जुदे २ लक्षण हैं दूध की पूर्ति पानी नहीं कर सकता और पानी की पूर्ति दूध नहीं कर सकता। दूध और पानीके गुण इकट्ठे हो जायेंगे पर एक न होंगे। आत्मा और शरीरके गुण इकट्ठे हो जायेंगे पर एक न होंगे। सुखमें और दुःखमें मोहजन समता खो देते हैं। बड़े बने सो सोचते हैं आत्मा पर बड़ी विपत्ति है, कर्मो से बन्धा है, पर यह नहीं सोचते। आत्मा आत्माकी जगह है और शरीर शरीर की जगह है। आत्मा पर पदार्थके बारेमें एक ख्यांल बनता हैं, उन्हें अपने आधीन बनाये रखने का ही विचार रूप प्रयत्न करता रहता है। यहां यह निर्णय कर लेना चाहिए कि पर पदार्थ कब तक आत्माके साथ रहकर सच्चा हित करेगा। पर पदार्थ आत्मा का कुछ नहीं है। दोनों की सत्ता जुदी २ है। ये अनेक विकल्प जो पर के बारे में हो रहे हैं वह आत्माके साथी कब तक हैं। क्या वह सुख देंगे यां निराकुलता पैदा करेंगे। रागद्वेष क्या हैं ? आत्मापर आपत्ति आगई हैं जो अनादि काल से चल रही है। ज्ञान तो अपना स्वभाव है। रास्तेमें कोई चीज मिलती है तो उसकेबारेमें जानकारी करते हैं यहक्या वस्तु है किसकी है। देखाजाय तोअपने को उससे मतलब क्या, परन्तु नहीं जानकारीकी उत्सुकता बनी रहती है।

प्रत्येककी सत्ता भिन्न २ है। कोई किसीका परिणमन कर देता है क्या ? यथार्थ ज्ञान करनेका फल यह अवश्य है कि अज्ञाननिवृतिके कारण है उपेक्षा भाव जागृतहो जाता है जिससे शान्तिकी धारा वह निकलती है। द्रव्य क्या वस्तु है उसको जाना जावे, आत्मा द्रव्य है। आत्मामें अनन्त गुण हैं। आत्मामें जाननेकी विशेषता है, वह ज्ञान गुण है रमण करनेकी विशेषता है वह चारित्र गुण है।आत्मामें सब गुणोंको संभालनेकी विशेषता है तो वह वीर्य गुणहो गयाअस्तित्त्व गुण है। आत्मामें पुद्गलमें भी अस्तित्त्व गुण है। जो अन्यमें पाया जावे उसे साधारण गुण कहते हैं एव जो अन्यमें न पाया जावे उसे असाधारण गुण कहते हैं। जैसे चेतना गुण जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता परिणमन शीलता आदि असांधारण गुण हुए ये सब द्रव्योंमें मिलेंगे। आत्माकी चेतना कर्म आदिमें नहीं पहुच जायगी। ज्ञान दर्शन गुण दूसरेमें नहीं पहुंचते। आत्माका गुण किसी दूसरे द्रव्य रूप नहीं बन जायगा। पुद्गल का गुण अन्य रूप नहीं बन जायगा। यह अगुरुलघुत्व है, यह भी साधारण गुण है। जितनीजगह शरीर है उतनीजगह आत्मा है। आत्माका प्रदेशत्त्व गुण साधारण है। आत्मा समझमें आसकता है। ईसकानाम प्रमेयत्त्व गुणहै। कुछ गुण ऐसे हैं जो अन्य द्रव्यमे नहीं पाये जाते व कुछ ऐसे है जो अन्य द्रव्यमें मिल जाते हैं। आत्मा अन्य वस्तु रूप नहीं बनता है। आत्मामें जितना गुण जो व्यक्त दीखता है।-वह पर्याय दीखता है अथवा वस्तुत: पर्याय रूपसे द्रव्य जाना जाता है। जिस पुदगल की पर्याय है वया वह आँखोंसे दिख जायगी पर्यायोंका झमेला है। क्षणिक चीजमें जीवकी रुचि जा रही है वह रुचि आत्माका अहित करने वाली है। यदि वह रुचि छूट जावे और आत्माकी रुचि बन जावे तो सम्यक्त्व हो जाय। परकी संयोगबुद्धि रखना इसे मिथ्यात्त्व कहते है। संयोग में जो सुख माना हैं उसका बादमें कितना दुख होता है सयोगमें हर्ष मानने वालों का वियोगमें नियमसे दुखः होता है। यह क्षणिक मेल,हो गया है पर नियमसे यह मेरे नहीं हैं। कई लोग ऐसे होते है जो स्त्रीके गुजर जानेपर दुख मानते हैं। इसका कारण संयोग था। जिनमें दुख हुआ उसीका संयोग, सोचता है मोही। अगर अवस्था अच्छी हुई तो दूसरा विवाह करने

की सोचता है। लोग मिर्च खाते हैं और चरपरी लगनेसे आंखोंमें आंसू आ जाते हैं फिर भी वह उसे पुनः भक्षण करता है। अनादि कालके अज्ञानके संस्कार जो चले आ रहे हैं उन्हें वह त्यागनेमें कठिनाई महसूस करता है। यहां दूध पानीकी बात बतलाई है पर उन दोनोंमें ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है जैसा अग्निका उष्णतामें है। आत्माका उपयोग गुण आत्मामें है ऐसा अधिक रूपसे मालूम पड़ता है जैसा अग्निमें उष्णता। शरीर भी यह अपना नहीं रहेगा सो प्रत्यक्ष देखेंगे वह तो ठीक किन्तु वर्तमान में भी अपना नहीं है।

अभेद आत्माको समझनेके लिये भेद रूपसे भी पहिले समझना आवश्यक है। जीवस्थान चर्चाको पढ़नेमें १५ दिन दो उसमें मन नहीं लगता। उसके बाद ज्ञानकी लगन लग जावे तो जब भी साधर्मी भाइयोंसे वे पढ़नेवाले मिलेंगे तो अन्य कथाओंको छोड़ इस जीव स्थानकी चर्चा करेंगे, उसमें ही रस लेंगे और पदार्थकी चर्चा नीरस मालूम पड़ने लगती है। भेदरूपसे समझ कर फिर निरपेक्ष तत्त्व समझो। निश्चयसे वर्णादिक पुदगलमें हैं। आत्मामें रूप रस गन्ध स्पर्श नही हैं। जड़ व चेतनमें प्रकट अन्तर है। भेद विज्ञानके बलसे आत्म स्वरूपकी दृष्टिको जिन्होने कर लिया हैं उन्हें ही सच्चा आनन्द आता है। लगन जब लगजाती है तो आत्माकी अमित शक्तिको समझनेमें देर नहीं होती।

इन सबको सुनकर शिष्य प्रश्न करने लगे कि यह कैसे कहते हो कि जीव में वर्णादिक नहीं है फिर अन्य ग्रन्थोंमें जीवके औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर क्यों बताये हैं तथा देव, नारकी, मनुष्य तिर्यंचके भी शरीर पाये जाते हैं? यह सब भी तो वर्णन जैन सिद्धान्तमें है इसके उत्तरमें यही बतावेंगे कि यह सब व्यवहारसे जीवके कहे गये है।

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सादि एसो पंथो णय पंथो मुस्सदे कोई॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिह वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणहि ववहारदो उत्तो॥

गंध रसफास रूवा देहो संनमाइया जेय।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू वयदिसंति

जैसे किसी रास्तेमें लुटते हुए रास्तागीरोंको देखकर व्यवहारी लोकजन ऐसा कहते हैं कि यह रास्ता लुटता है, किन्तु वास्तवमें देखो तो कोई रास्ता लुट ही नहीं सकता। इसी तरह जीवके निवास क्षेत्रमें एक क्षेत्रावगाह स्थित कर्म और नोकर्मोंके वर्णको देखकर व्यवहारसे यह वर्ण जीवका है ऐसा जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा गया (प्रणीत हुआ है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदिक जितने भीवे भाव हैं वे सब व्यवहारनयके आशयमें जीव के हैं ऐसा निश्चयतत्त्वज्ञ पुरुष व्यपदेश करते हैं।

अपना ज्ञान निर्मल हुए विना आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता। राग-द्वेष करता है। ऐसी कल्पनाही आत्मामें न आवे। दुनियां कहती है, भगवान सब को देखता है। जब अपना ज्ञान निर्मल होवे तो भगवानके ज्ञानको समझा जाय। क्या भिखारी करोड़पतिकी संपत्तिको जान सकता है। मलिनज्ञानमें भगवानका स्वरूप नहीं जाना जा सकता। ज्ञान सर्वदा जान सकता है ऐसी प्रतीति होने पर रत्नोंका ढेर हमारी आत्माकी कौनसी वृद्धि कर सकता है? रत्नोंका ढेर वहां कुछ भी नहीं कर सकता। उसके लिए एकान्तमें बैठकर सोचे मैंने नर जन्म पाया है वह किस लिए पाया है। भैया प्रायः अपनी उमर जितनी बीत गई क्या अब उतनी बाकी रही है, जो समय बीत चुका उसमें कुछ करा क्या? इतनी आपत्ति मिली, दुखमिले, औरोंके तानें मिले, घृणा मिली। इससे क्या लाभ हो रहा है, तथा क्या लाभ होनेकी उम्मीद है। अब तक मैंने जो किया है, उसमें परिवारसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, समाजसे, मित्रोंसे कुछ मिला है क्या? कुटुम्बमें अनेक झंझटें आई फिर भी हम भूल जाते हैं। ऐसा कोई नहीं होगा जिसे स्त्रीसे पुत्रसे दुख न मिला हो। बाह्य वस्तुओंसे मोह तब तक नहीं छूट सकता जब तक असली आत्मामें आनन्दका विश्वास नहीं करेगा। पर पदार्थोंमें सुख नहीं है, यह विश्वास जब आत्मामें जम जाय तब उसे निवृत होवे। अन्तरङ्गमें आनन्दका आना और स्वात्मानुभूतिका

होना यह दोनों एक साथ होते हैं। जिस आनन्दके आनेपर तीन लोकका विभूति भी तुच्छ मालूम होती है। ज्ञान वस्तु स्वरूपका होना चाहिए। जैसे भौतिक पदार्थोंके जाननेमें उपयोग लगाते हैं, उसी तरह वस्तुके यथार्थ स्वरूप को जाननेका उपाय करे तो वस्तु स्वरूपका ज्ञान हो सकता है। वस्तु स्वरूप का ज्ञान समझना कठिन नहीं। पहले यह जानना वस्तु कितनी होती है। जितना एक खंड है उतनी एक वस्तु है। आपका और हमारा जीव भिन्न भिन्न है वह मिलकर एक नहीं हो सकता। वह अनादिसे भिन्न २ है। उसी तरह दो परमाणु मिलकर भी एकमेक नहीं हो सकते। पिण्ड रूप होनेपर जुदा जुदा है व प्रकट जुदा हो जावेगा। सत्ता न्यारी न्यारी है। पिता अपना परिणमन करता है, पुत्र अपना परिणमन करता है। झोंपड़ीमें जो आगया उसे अपना मानने लगा। पाप एक व्यक्ति करता है उसका बांटने वाला अन्य नहीं होता। अन्याय किया उसका समर्थन किया, इससे उसने नया पाप और किया। प्रत्येक जीव पाप पुण्यादि स्वयं भोगते हैं। अन्यको सहारा बनाकर सुखी व्यर्थ मानते हैं। लौकिक सुख भी स्वयमे होता है पर सोचें तो वह सुख सदैव अपने अनुकूल भी रहता है या नहीं। स्त्री प्रेम, पुत्र प्रेम, धनसे प्रेम मकानसे प्रेम इत्यादि पदार्थोंसे प्रेम करना ही कर्तव्य मान रखा है। पर यदि इनका आनन्द नहीं मानते, इनमें ही नहीं पगे रहते तो हम करोड़ गुना आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। जो इतने ज्ञानकी श्रेणी तक पहुंचे हुए है उनके अलौकिक सुखकी झलक मोहके नाशसे होती है। स्वतन्त्रसत्ता वाले तो हैं ही अब भिन्न २ पदार्थको समझ जावें कि चैतन्यमात्रको छोड़कर और सब जड़ पदार्थ हैं। जब ये भिन्न हैं तो मेरा क्या है इनमें ? भिन्न २ जान जाने पर मोह छूटेगा ही। कोई व्यक्ति कहे त्यागीसे, हमारे इस बच्चेको क्रोध छुड़ानेका नियम दिलादो, तो वह नहीं छोड़ सकता। क्रोध आनेपर मन्त्र पढ़ना, क्रोधके स्थानसे दूर बैठ जाना, किताब पढ़ने लगना, शीतल जल पी लेना, मिष्ट पदार्थ को मुंहमें डाल लेना गिनती गिनने लगना, इत्यादि तो जबर्दस्ती भी किया जा सकता है। क्रोधका त्याग कैसे दिलाया जावे। क्रोधसे मेरा ही नुकसान होता है इसे मैं अपने पास क्यों आने दूं, क्रोध मेरा स्वभाव

नहीं है इत्यादि विचारो एवं आत्मा कार्योंके द्वारा उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

मोह छूटे तो ज्ञान करें यह न कह कर ज्ञानमें लग जावे तव मोह छूटेगा ही। ज्ञानका आवरण हट जाय ज्ञान विशुद्ध हो गया तभी वह अनुभव करेगा। भगवानका गुणगान करनेसे पहले छोटे भगवान वने। निर्मल ज्ञान हो सो वह भगवान है। लौकिक आनन्दके लिए जो कुछ मिला है उसे तो छोड़े तथा सच्चे आनन्दके लिए प्रयत्न किया जाय। लाखों रुपया लगाकर कम्पनी खोली, पूर्वमें उनका नुकसान किया। आगे जाकर उनका लाभ मिलेगा ऐसी हिम्मत रखते हो या नहीं। असली जो हमारा स्वरूप है उसके अनुभव होने पर बाह्य पदार्थका ममत्व होगा। जैसा विषयसुख मिला, इसी तरह निर्बाध यह सुख मिल सकता होता तो चलो वही धर्म था। स्त्री वृद्ध नहीं होवे, वह पहले जैसा ही भाव रखे रहे, वच्चा खिलाने योग्य छोटा ही वना रहे, जो इष्ट था वही वना रहे सो होता नहीं। इसी कारण ये आकुलताके कारण सदा स्वाधीन आनन्द मय स्थिति है वह निजकी है।

वर्तमान स्थिति जो कुछ भी हो उसीमें हितका विचार करें, उसके इस विवेक के अनुसार कार्य वन भी सकता है अन्यथा नहीं। २००) माहकी आमदनी और वढ़ जावे आगे और भाव वनेगा, वढ़िया साज समाज जुटानेकी इच्छा होगी। या जो दो वर्ष पश्चात आत्म कल्याणके पथ पर चलनेकी इच्छा थी, कदाचित उतने समयमें मृत्यु हो गई या स्थिति गिर गई तव कौन सहायक होगा! अपने अपने पुण्यके अनुसार कार्य होगा। अपने कर्तव्यको निभाकर स्वतन्त्र तो वना जावे। आपकी जो आजस्थिति है उसीमें विभाग करें पुरुषार्थ करके परिणति संभाली जावे तो सुखी न हो यह हो नहीं सकता। जीवनमें अन्य कार्य तो सदैव किया अन्तिम कार्य यह करके देखे। इतना सब करके ज्ञानके लिये फकीर वन जावे, छात्र वन जावे, मुझे तो पढ़ना है। जो कर लेवे सो वीर है। चक्रवर्तियोंको छोड़ना पड़ा तब अपनी तो वात क्या?

कमाई में कमी आवे तो आवे पर समता न छोड़ो। समस्त शास्त्रोंका सार समता है। समता से कर्म जल जाते हैं। साम्यं शरणं। क्रोधादि के विषय उपस्थित होनेपर समता धारण करना कोई किसीका स्नेही नहीं है। अकेले ही सुख है, दुख है। "त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथ्वी त्यजेत्। कुलकी रक्षाके लिए एकको छोड़ने की जरूरत पड़े तो छोड़ देवे। यदि गांवकी रक्षा होती हो एक कुलके छोड़नेसे तो उसे छोड़ देवे। यदि एक गावके छोड़ने से देशकी रक्षा होती हो तो उसे छोड़ देवे। और अपने आत्म रक्षा कल्याणके लिए पृथ्वीको भी छोड़ देना चाहिए जिनको यह आत्मतत्त्व प्यारा है या ज्ञात रहता है उन्हें मृत्यु अमृतके समान रहती है। जिन्हें पर पदार्थमें आत्म बुद्धि है उन्हें ही सन्ताप होगा। सारी महिला जो वह है वह आत्मस्वभाव की है। आत्मा जिस ओर निगाह देनी है। उसी तरहकी सृष्टि बनेगी। निर्मलतापर ध्यान देता है तो शुद्ध आत्मा बनेगा

एक पुरुष था उसके दो लड़के थे। उन दोनोंमें एकको कम दीखता था तथा दूसरेको पीला पीला दीखता था। दोनोंको सफेद मोती भस्म गाय के दूध में चांदीके गिलासमें देना वैद्य जी ने बताया। जब यह दवा दी। तो कम दीखने वालेने तो पीली उसका रोग अच्छा हो गया। दूसरे को दी तो कहे यह गाय का पीला मूत्र है, यह हड़ताल है। यह कहकर दवा नहीं पी इससे उसका पीला पनका रोग नहीं गया चाहे ज्ञान थोड़ा हो, होना चाहिए यथार्थ। सत्यज्ञानकी बड़ी महिमा है। क्रोधादि अचेतन भाव हैं उनमें आत्मबुद्धि क्या करना ज्ञान और दर्शन चैतन्य गुण युक्त है बाकी गुण तो चेतन का काम नहीं करते। अभेद की दृष्टिसे आत्मा चैतन्य है। मेरे लिए दूसरेका ज्ञान दर्शन अचेतन है। चेतन अचेतनका ज्ञान होना विवेक है। मेरा चेतन तो चैतन्य है और चैतन्यकी दृष्टि जहां है वह ज्ञान भी निश्चयसे चेतन है।

इस ग्रन्थका नाम समय सार है। समय माने आत्मा उसका जो सार वह समय सार है। सार तत्त्व त्रिकालवर्ती चैतन्य स्वरूप है। कुछ काल रहे कुछ काल न रहे उसेसार नहीं कहते। परिणाम अनादि अनन्त नहीं है, ये घटतेबढ़ते हैं चैतन्य स्वभाव न घटता है। और न बढ़ता है। ऐसे शुद्धतत्त्वका वर्णन करने

है। पानी और दूधका तादात्म्य नहीं हो सकता अग्नि और उष्णतामें जैसे तादात्म्य है तैसे इसमें नहीं है। अग्निसे गर्मी कब हटेगी जब अग्नित्व हटेगा। एक क्षेत्रावगाही शरीरसे आत्मतत्व मिल रहा है। शरीरपर गुजरती है उस निमित्तक होने वाली वेदनाका अनुभव आत्माको भी करना पड़ता है। आत्मा सब द्रव्योंसे जुदा नजर आता है। अग्निके समान शरीर और आत्माका सम्बन्ध नहीं है। जब कोई मर गया तब हम जानते हैं, इस शरीरमें आत्मा नहीं रहा जीव नहीं रहा, चैतन्य नहीं रहा। जब शरीर जीवका नहीं तो शरीरके वर्णादिक जीवके कैसे हो जावेगे यह नहीं कहते कि आत्मा ही शरीर मय था। यह तो हुआ जिनका शरीर उपादान नहीं है उनका कथन किन्तु जो सुख दुःख आदि आत्मामें होते वह भी जीवके नहीं हैं। पुदग्लको निमित्त पाकर सुख दुख भोगता है निश्चयसे तो नरग ही जीवके नहीं हैं शुद्धदृष्टि जीवको देखता है केवल रागादिक किसके है! जब एकदेश शुद्ध दृष्टि है तब कहेंगे पुदग्लके हैं। शुद्धतत्वकी दृष्टि तब जानी जाव जब सोचे मैं शुद्ध तत्व हूँ। मैं पुरुष नहीं मैं स्त्री नहीं, मैं धनी नहीं, मैं गरीब नहीं, मैं तो चेतना मात्र वस्तु हूँ। इस प्रतीतिसे पुण्य भी बढ़ेगा, निर्जरा होगी, पापका क्षय होगा यह प्रतीति छूट गई होवे तब समझो मैंने १२ वर्ष पूजन करके, स्वाध्याय करके भी कुछ नहीं पाया। मैं उपयोग गुण करके चेतना मात्र हूँ। जो मेरे नहीं है उनमें मैं क्या रति करूं जिनके ज्ञानमें ममता भरी है सो बुद्धू है। इस चेतना दृष्टिमें न भाव कर्मका सम्बन्ध देखा न कर्म भावका सम्बन्ध देखा गया तब अपना मर्म पहिचाननेमें आया।

अगर पर्याय २ रूप अनुभव किया कि अन्य भी ऐसा करते हैं तथा दादे परदादे करते आये हैं मैं भी ऐसा ही करूं तो अनादि कालीन जो पर्याय मिलती आ रही है उन्हें कौन आगे टाल देगा। यह है नवीन क्रान्ति एव धर्मका पालन। किसीका नाम लेकर बुलाया तो जल्दी स्वाल उठता है, क्या है। क्योंकि वह अपने नामसे सजग रहता है, वह सदैव उस रूप नाम वाला मानता है। इसी तरह चेतना मात्रकी प्रतीति समायी रहे तो स्वात्मानुभव नजरमें आवे कि मैं तो चेतना मात्र आत्मतत्व हूँ। ज्ञायकरूप हूँ। यह धर्म है।

तो ऐसे धर्मकी दृष्ठि रखकर फिर देखो जगतमें कोई ऐसी जगह बता सकते हो जहां चेतना न हो। चेतनाके विचारनेमें सीमा नहीं आई चेतनासे खाली कोई जगह नहीं इसी बातको देखकर वेदान्तमें एक ब्रह्म उल्लिखित हुआ। चेतना मात्र ही प्रतीति हो तो वह है असली कमाई, ऐसा ज्ञान मात्र आत्माका अनुभव करना सो धर्म है। ज्ञान जिनका बढनेको होता हैं वह बार २ खाने पीनेमें समय व्यतीत नहीं करते। ज्ञान मात्र कार्यक्रम बन गया वही हुआ व्रत, तप संयम। फिरभी उन क्रियाओमें अपनकी दृष्टि गई तो वह शुद्ध दृष्टि नहीं रही। यही शुद्ध दृष्टि सब सुखोंका बीज है। जिसे शुद्ध दृष्टि हुई तो वह गहने भीं इतने अधिक नही पहनेगा' दूसरोंकी सेवा करनेमें अपने भले बुरे की भावना लायगा।

कर्म के उदय से होने वाले सक्लेश परिणाम होते हैं और कर्मके क्षयोपशम से होने वाले क्षायोपशमिक परिणाम होते हैं। यह दोनों भी जीवके नहीं है। संयम जो होता है वह भी कषाय के अभाव से होता है। किसी कषायके अभाव में जो चीज हुई है उसमें दुर्गुण तो पहले हा बता दिया है कि यह ऐसा था। निर्मलता के तारम्यतासे समण्के स्थान बनते है सयम के स्थान भी जीवके नहीं गुण स्थानोंमें जोवका होना स्वभावसा है। किन्तु वहभी व्यवहारसे है, निश्चय गुण स्थानभी जीवके नहीं है क्योंकि गुण स्थान भी कोई कर्मके उदयसे कोई छयोपशमसे वह क्षयसे होता हैं। १४ जीव समास भी जीवके नहीं हैं। निश्चयसे जीव तो अमूर्तिक हैं। उपयोग गुण करके जीव अधिक है उसमें संयमतक तो ऐसा नहीं है जो अनादि होवे और अनततक करणानुयोगमें भी कहा गया है कि सिद्ध भगवान संयम असंयम संयम संयम तीनोंसे रहित है। आत्मसभाव भी ऐसा ही है। इनमें जीवका कोई तादात्मा नहीं है इससे जीव के नहीं है। केवल ज्ञान केवल दर्शन भी जीव के नहीं। सामायिक से संकल्प जीव में आते है वह जीवके नहीं क्योंकि वह पैदा होकर नष्ट हो जाते हैं जो स्वभाव होता है वह जीवका है, अन्य दशायें कोई जीवकी नहीं। किसीने प्रश्न किया जीवका वर्णादि के साथ तद्रात्म्यपना क्योंनहीं है ? उत्तर देते हैं।

है। कोई धार्मिक कार्य किया और उसमें कहना यह सब आपकी बदौलत है, या यह कार्य आपके दासने किया है इसमें भी कषाय छुपा है। एक माता पिताके चार लड़के थे, चारों जवान थे। उनके ऊपर गरीबी आ गई। गरीबी काटनेका उपाय सोचा, तो पासही गाँवमें उनकी मोसी रहती थी। उसके यहाँ जानेका सबने निश्चय किया और चारों मोसीके यहां चल दिये। मौसी के यहां जाकर बोले मौसी मौसी हम आगये। मौसी बोली अच्छे आये। क्या खाओगे ? जो बनाओगी मौसी जी सो खावेंगे। तब मौसीने कहा मन्दिर जाओ नहाओ आदि। चारों लड़के कपड़े उतारकर मौसीके घर रख गये थे। मौसीने सोचा भोजन बनानेको सामग्री तो है नहीं। इसलिए उन भाइयोंके कपड़ा लेकर गहने रखे तब भोज्य सामग्री लाई और भोजनमें बढ़िया २ माल बनाया। चारों भाई आये, उन्हें भोजन करनेको बैठाया। चारों भाई सोचें अच्छा माल मिला खानेको। मौसी कहे खाते जाओ बेटा तुम्हारा ही तो माल है। भोजन करनेके बाद उठे तो कपड़े नहीं है पहनने को। पूंछा मौसी कपड़े कहां रखे है ? उत्तर मिला तुम्हें भोजन ही तो कपड़ोंको रखकर कराया है। ५०) रु० कर्जमें लिये तब भोजन बनाया था। इसी तरह हम ज्ञानानन्द रूपी माल स्वयंका भोग रहे है। किन्तु मानते हैं परसे ज्ञान, आनन्द आया, बस इसही का तो दुःख है। आत्मामें उठने वाली तरङ्गे पुद्गलकी है। रस गन्धादि पुद्गलकी तरङ्गे हैं। शरीर यहीं पड़ा रहेगा, जीव चल देगा। एक देशमें ऐसी प्रथा थी किसी व्यक्तिको राजा चुन दिया जाता और ६ महीने राज चलाना पड़ता था। बादको उसे जंगलमें छोड़ दिया जाता। एक बुद्धिमान राजा था, उसने सोचा ६ महीने बाद दुर्गति होगी अतएव दुर्गतिसे बचनेका प्रबन्ध पहलेही क्यों न करलूं। तो उसने राजा होनेकी ताकतसे ६ महीनेके भीतर जंगलमें आलीशान मकान बनवा लिया, जंगलमें नौकर चाकर भेज दिये खेतीकी योजना करा दी भोजन सामग्री, सोना चांदी, कपड़े, धनादि इच्छित पदार्थ भेज दिये। अब बतावो इस राज्यके बाद भी क्या दुःख रहेगा। मनुष्य गति इसी तरह मिली है तथा इसका यही हाल है इसका जो इतने समय तक हम जो करना चाहे सो कर सकते हैं। बादमें सब ठाठ यहीं पड़ा

अभिषेक करते हैं ग्रहस्थावस्था में उतना बड़प्पन था। परिग्रह में रह रह कर किस ने सुगति पाई। अपने अपने घर का खाकर किस ने मुक्ति पाई अन्य का कष्ट न सहना पड़ा और मुक्त हो गये ऐसे उदाहरण विरले हैं। भरत चक्रवर्ती, बाहुबलि बिना अन्य का आहार लिये मुक्त हुए। "फांस तनक सी तन में साले, चाहे लंगोटी की दुख भाले"। पैसे की थोड़ी भी चाह दुख देने वाली है जैन धर्म तो यही कहताहैजहां पूर्ण निष्कलंक परिणाम हो वहां आप पर का भास होता है। अन्य उपाय नहीं है। दुर्लभता से मनुष्य जन्म पाया वह धर्म साधन के लिए है उसमें राग द्वेष एवं प्रीति की बात क्या ? यह सब आत्मा में निज शुद्ध स्वभावका घात कर रहे हैं। यह भाव सुहावने लगते हैं, पर उन का परिणाम कटुक होता है जरा सा विकल्प भी धर्मसाधन नहीं होने देता विकल्प से न धर्म न अर्थ और न ही पुरषार्थ की सिद्धी होनी है न पालन पोषण है व्यर्थ में अपना घात करता है।

बाहुबलि के मन में यह बात बैठी थी, मैंने बड़े भाई का अपमान किया लगता है, बाहुबलि जी बहुत अच्छा सोच रहे थे। पर देखो। अरे। शुभ विकल्प होचाहे अशुभ वह मोक्ष को रोकता है। धर्म कमाने का उद्देश्य तत्सम्बन्धी उपदेश है धर्म की चर्चा बड़े पुरुष से करो यह भी तो, विकल्प है। आत्मा पर करुणा करो। जिस विकल्प में पडे उस घेरेसे मुक्त होने की कोशिश करो। ज्ञानी मोह को देख कर पश्चाताप करेहै कुछ ठीक ही है किन्तु मोही अन्य को देख कर कहे यह मोह में कैसे दुखी हो रहे हैं। जगत में तो आग लगी और स्वयं डाल पर बैठ कर कहे वह जल गया, अरे वह जल गया पर अपनी नहीं सोचता कि मैं भी जलूंगा उस पर बुद्धि नहीं दौड़ती। दूसरे के दुख को तो कहता है किन्तु अपनी मानो पूर्ण सुध ही भूल चुका कैसा प्रतापहै अज्ञान का, जो मुझ में बुद्धि है व श्रेष्ठ बुद्धि है इससे अधिक नहीं सोचता। डेढ़ आँख का किस्सा हो रहा है। एक आंख अपनी देखकर दुनियां की आधी आँख ही मानता है। अपनी वेदना मेटना चाहिए तब दूसरों की पीड़ा अनुभव किया जाय। ज्ञानी वहहै जो अपने समान सब को समझे। सब प्राणियों को चैतन्य मात्र देखे चेतना में द्रव्य दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है व्यर्थ ही बाहर क्यों दौड़ा

बाहर में क्या करूंगा मैं अपनी क्रिया अन्तरङ्ग में ही तो करूंगा। जो मेरी सामर्थ्य में नहीं है ऐसा कार्य क्यों करूं। जो भाव मन में बन जाय उसका खेद रखना चाहिए।

अभिमान दुखका मूल है। जो मैंने किया वह ठीक किया यह व्यर्थ का व्यामोह है। जो कर्त्तव्य का अभिमान है वही दुःख की निशानी है। शरीर को वृद्ध मत होने दो शरीर को आत्मा से अलग मत होने दो यह क्या अपनी शक्ति से कर सकता है? कुछ कर पाता नहीं केवल विकल्प का कर्ता होरहा है। मनुष्य तीतर, को लड़ाकर खुश होता है, कुत्ते, मनुष्यों को, पशुओं को लड़ा कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। इस में विकल्प कर के पाप के कर्ता हुए और कुछ कर सके नहीं। मेरा बाकी इसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। यह चैतन्य पिण्ड महा मोह राजा के आधीन हो कर दुख उठा रहा है। मैं शुद्ध चेतना मात्र हूं। जानन मात्र हूं, ज्ञान मात्र हूं प्रतिभास मात्र हूं। जितना जानन पन है वह तो मैं हूं इसके अतिरिक्त जो भी विकल्प है वह मैं नहीं हूं। यद्यपि विकल्प भी उपाधि वश आत्मा में हो रहे हैं तथापि मेरे स्वभाव का विस्तार न होने से वे सब तरङ्गें मैं नहीं हूं। परिजानन मात्र ही वृत्ति रखी जावे तो निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हो लेवे।

देह का मान भी न रहे ऐसी भावना में आत्मा को शान्ति मिलेगी। पर-पदार्थों को अपना मानने में कर्म ही बंधेंगे। अब आगे श्रीमत्कुंदकुंददेव यह कहते हैं — कि यदि कोई ऐसी ही हठ करे कि जीव का वर्णादिकके साथ तादात्म्य है ही तो इस दुरभिनिवेश होने पर क्या अनिष्टापत्ति आती है.—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे अदिहि।
जीवस्साजीवस्स य। णत्थि विसेसो दु दे कई ॥६२॥

वर्णादिक ये समस्त भाव जीव के ही हैं अथवा जीव ही हैं यदि ऐसा मानते हो तो तुम्हारे मन से अब जीव और अजीव में कोई भेद नहीं रह गया समझो।

पहले कहीं कहा गया है कि संसार अवस्था में कथंचित् तादात्म्यता है

वर्णादिसे कभी तादात्म्य नहीं हो सकता। यदि स्वरूप में वर्णादिक हो जाय तो फिर उसका नाम जीव रखने का प्रयोजन ही क्या रहा पुद्गल ही न कह दिया जाय सीधा संसारिक अवस्था में भी वर्णादिक भिन्न हैं, तथा मेरा आत्मा भिन्न है। अपने स्वरूप पर दृष्टि गई तो पर पदार्थ से मोह हटेगा। ज्ञानी व मोही में कितना अन्तर है। बिल्ली एव छिपकली जैसे जीवो को मार कर भी भगाना चाहो तो वह कीड़ा को अपने मुंह से नहीं छोड़ेंगे। हिरण जरासी आहट में घासको छोड़ देता है। ज्ञानी एव मोही दोनों शरीर की सेवा करते है. पर जिस ने अन्तर समझ लिया वह ज्ञानी है। वर्णादिक तो गुण है वह नई दशा उत्पन्न करते है पुरानी दशा विलीन करते है। आविर्भाव तिरोभाव पर्याय से हुआ वर्णादिक पुद्गल का अनुसरण करते हैं। वर्णादिक कातादात्म्य पुद्गल से रहा। अगर कहा जाय वर्णादिक जीव का अनुसरण करते है तो जीव में और पुद्गल में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अन्तर नही रहने पर जीव भी नष्ट हो जायगा तथा जीव के नष्ट होने पर ज्ञायक पना भी नहीं रहेगा ज्ञायकता नष्ट होने पर ज्ञेय भी नष्ट हो जायगा तो सर्वनाश हो गया अज्ञानी अपने को गृहस्थ में फंसा हुआ पाकर निवृत्त होने की कोशिश नहीं करता, पर ज्ञानी सतर्क रहता है। मैं तो चेतना मात्र हूं इस तरह का आभास ज्ञानी को होता रहता है। बड़े अफसर के नीचे कार्य करने वाला नौकर उसके पास जा कर जी हुजूरी करता है, काम भी पूर्ण करता है। पर यदिवह हृदय से आफीसर का कार्य नहीं करना चाहता तथा उससे उसे घृणा है तो वह कार्यभी करते हुए नहीं करनेके बराबर है। "भरतेश वैभव में भरत चक्रवर्तीका वर्णन टाटबाट का भी चल रहाहै साथमें वैराग्य का भी चल रहा है। ९६ हजार रानियों द्वारा भरत का बड़ा सन्मान किया जा रहा है, भरत भी रानियों को प्रसन्न करने में नहीं चूकते, किन्तु टीस कुछ और ही वैराग्य की लगी है।" सर्व भोग्य सामग्री मौजूद है पर वह उसमें सनते नहीं यह सबसे बड़ी उनके जीवन की विशेषता रही। विनाशीक वस्तु से प्रेम क्या? रात के बाद दिन है दिन के बाद रात है किन्तु दिन भर की थकावट से ऊबने पर रात के आराम का ख्याल रहता है किन्तु चित्त में यह बसाहै कि रातके बाद दिन तो आना है वह आराम में क्या

आसक्त होगा। जिसे रात में अनेकों ख्याल से दुःख रहता है और दिन में कार्य व्याससे दुःख भूला रहता है सुख में लग जाता है उसे यह ख्याल है कि दिन के बाद रात तो आती है वह सुख में क्या आसक्त होगा।

ज्ञानी जीव जानता है सुख दुख दोनों विनाशिक हैं वह उनमें क्या लगेगा। लगे तो वह लगन भी तात्त्विक विचारों के द्वारा रफूचक्कर हो जाती है। सुख औ दुख दोनों का जोड़ा है दुखही निरन्तर बना रहे यह भी नहीं हो सकता,सुखभ निरन्तर नहीं टिकता। यह संसारिक जीवों का उदाहरण है। पर पदार्थ से सुखमानने वाले सयोग में तीव्र बुद्धि रखते हैं। लेकिन जब वियोग होता है तब उन्हें अति दुःख उठाना पड़ता है। आगे पीछे का ध्यान रखकर जो कार्य किया जाताहै उसमें दुख अधिक नहीं उठाना पड़ता। जो लोग आत्मा को नहीं मानते वे भी मरण समय में अपने बारे में कुछ तो सोचते हैं। चार्वाक जैसी बुद्धि रहजाय तो दुख नहीं होना चाहिए। मरते समय यह बुद्धि चार्वाक में भी आ जाती है। कि हाय अब मैं मरा देख लो उसे दुख सहन नहीं हो पा रहा। बच्चा कपड़ा सुखाते समय कहते हैं ताल का पानी ताल में जइयो कुआका पानी कुआ में जइयो मेरा कपड़ा सूख जइयो। इसी तरह चार्वाक लोग कहें कि पृथ्वी का शरीर पृथ्वी मे जावे, वायु का वायु, में पानी का पानी में आकाश का आकाश में और अग्नि का अग्नि में तो माने तो सही मरते समय तो उनके आत्मा नहीं है और दुखों से नहीं छटपटावें। क्रोध आने के ५ मिन्ट पूर्व सोच लिया जावे इससे मेरी हानि होती है तो वह कारण ही उपस्थित न होवे। व्यवहार की दृष्टि प्रबल होने से पर में आपा भूले हैं निश्चय दृष्टि से कोई भी पदार्थ अपना नहीं है तब वह हित क्या करे गा।

वस्तुका विश्लेशण करते समय व्यहारनय भी विशेष उपयोगी होता है पर आत्म साधक के लिए निश्चयनय ही कल्याणप्रद होता है। या ज्ञान के लिए निश्चयनय विज्ञान के लिए व्यहार नय है। निश्चयनय की दृष्टी रखने वाले एवं निश्चय का कथन करने वाले ने व्यवहार का आलम्बन न किया हो ऐसा कोई होवे तो बतावे। पहला अपना मार्ग तो व्यवहार के द्वारा सुगम लिया और दूसरों को निश्चयका उपदेश देने लगे। मैं ज्ञानमात्र हूं, चैतन्य

मात्रहूँ। अगर वाहरी विकल्प छूट जायँ तो शान्ति मिलेगी। अगर परिग्रह का परिमाण कर लिया तो विकल्प उसी के अनुसार के वनेंगे। परिग्रह का प्रमाण करने वाला प्रभाव में नहा जावेगा परिग्रह का विकल्प छूट जाय तथा ज्ञान वढ़ा कर अपना समय ज्ञान वार्ता में बितावे वाकी समय में यह उपाय करे कि खाली समय का उपयोग अच्छे में होना चाहिए। रिटायर्ड हो जाने पर धन लाने की तृष्णा छोड़ कर आत्म कल्याण के लाभ की लगन होना चाहिए। पढ़ने से निर्मलता आती है। प्राचीन ऋषियों की वात समझने में समय व्यतीत होना चाहिए ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो प्राय:—सभी भाईयों में विशेष २ है। जिस बुद्धि का उपयोग वड़ी २ कम्पनियों की व्यवस्था में हो लेता है जैसे उत्तर रेलवे, दक्षिण रेल, पूर्व एवं पश्चिम रेलवे तथा सेंट्रल रेलवे का टिकिट किसी भी तरफ से खरीद लो तथा वह पैसा जिस स्थान का सफर होता है वहाँ पूर्णतया पहुंच जाता है उसी तरह जिस क्षयोपशम में इतनी वड़ी विशेषता है तव क्या वह निज का कार्य नहीं कर सकेगा विशुद्ध चैतन्य मात्र जीव है किसी भी प्रकार जीव साक्षात दिखते है फिर उनका लोप करना कहां तक उचित है। पानी में तेल मिलकर एकमेक रुप नही हो सकता उसी तरह चेतन में पुद्गल नहीं मिलता पुद्गल में जीव नहीं मिलता। देह का स्त्री पुत्रादिमें कोई प्राकृतिक सम्वन्ध नहीं है केवल ऐकान्तिक मोह है। हम तुम्हारे नहीं हैं, तुम हमारे नहीं यह स्पष्ट ज्ञात होते हुए हम उनमें व्यर्थ में मोह कर रहे हैं घड़ी, मेज, कुर्सी आदि अपने २ परिणमन से कह रही है कि हम तुम्हारे नही हैं। मोही जाव अपनी ममता से ही कहते हैं तुम हमारे हो। मरते समय तक भी कहते हैं हमारे हैं हमारे हैं। इतने पर भी पदार्थ कहते हैं हम तुम्हारे नहीं है। -

इस तरह देह को और जीव को एक गिना तो अनेक आपत्तियां आजावेंगी मैं चेतना मात्रहूं इतनी बुद्धि रख लौकिक कार्य भी आजावें तो मोह न करे। इसका सरल उपाय भेद विज्ञान है,-यही वीज का कार्य करेगा। भेद विज्ञानी की भावना तव तक भानी चाहिए जव तक स्वतन्त्र तौर से स्वका अनुभव होने लगे। गृहस्थ और मुनियां में क्या अन्तर है। गृहस्थ की धारा टूट २ जाती

है । मुनि की धारा समान प्रवाहित रहती है वह टूटती नहीं कार्य दोनों का चालू है, किन्तु उनका अन्तर निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मेल व माल गाड़ी दोनो एक रास्ते से जारही है, लेकिन जब मेल गाड़ी की सूचना २या ४ स्टेशन पीछे से भी मिल जाय तो माल गाड़ी को पड़ा रहना पड़ता है तथा अगली स्टेशन जब पार कर जाय मेल तब माल को अवसर मिलता है। इसी तरह का अन्तर अश्रेणिगत मुनि और गृहस्थ के कर्मोंकी निर्जरामें व मोक्षमार्ग में रहता है। मुनि को संसार के भोग हेय हैं पर गृहस्थ उन्हें रुचि से भोगता है। मुनि रुखे अलोने भोजन से भी पेट के गडढे को भर कर सन्तुष्ट रहता है किन्तु गृहस्थ नई नई सामग्री भोजन में जुटाने पर भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता ज्ञानी गृहस्थ संतुष्ट रहता। मुनि के तृष्णाग्नि शान्त हो जाती है किन्तु गृहस्थ की खाई नहीं भर पाती।

मुनिकी कार्यव्यस्त प्रणाली प्रतिपल निर्जरा का कारण हो सकती है वहां गृहस्थ निर्जरा के विषय में अचेत जड़वत रहता है। जब कभी उसके भी निर्जरा हो जाती है। गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए बारह भावनायें सदैव हितकारी है। यह बारह भावनायेंमुक्तिमार्ग का विचित्र पाथेय है।

शास्त्रो का, सार जीव और पुद्गल को भिन्न समझ लेने में है। इन से मैं भिन्न हूं अतः इन किन्हीं भी परका मैं कुछ नहीं करता केवल इन का विषय करके मैं विपरीत अभिप्राय बना सकता मोही केवल पुद्गल पर्याय देखो कर विपरीत मति बनाता है। उसे अन्य की तो खबर ही नहीं जीव जुदा है पुद्गल जुदा है यह तत्वका निचोड़ है धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य भी हैं उन्हें देख कर विपरीत मती बनाता है यह क्यों नहीं कहा ! जीव का जो व्यवसाय होरहा है वह पुद्गल को विषय बनाकर चलरहा है।धर्म द्रव्यको विषय करके कौन क्या सोचता है ,उसी तरह अधर्म ,आकाश और काल को विषय बनाकर भी कौन पुद्गल के समान रति करता है ! धन वैभव कोदेख कर एवं विषयों में बाधक जो पदार्थ हैं उन्हें देख कर अच्छे बुरे परिणाम करेंगे। जीव और पुद्गल के इस भेद को जुदा २ बताने वाले प्रथम तो रुपत्त्व और अरूपत्त्व दो मुख्य कारण हैं पुद्गल में रुप रस गंध वर्ण है अतः देह एवं पुद्गल रुपी है

जीव में यह नहीं पाये जाते अतः अरुपीहैं।या यह जीवका असाधारण गुण नहीं है। धर्म अधर्म आकाश कालमें भी रुपी पना नहीं पाया जाताहै। इस तरह यह रुपीपन पुद्गल में है जीव में नहीं
धर्मादिवः द्रव्यमें नहीं। अतः रुपित्व अरुपित्व के वल पर वस्तुतःभेदविज्ञान नहीं होता है तव विशेषता वह देखी जावे जो पूर्ण अन्वयव्यतिरेक सहित हो, वह है चैतन्य भाव जीवमें चैतन्य है, पुद्गलमें चैतन्य नहीं है। यहां आत्मद्रव्य की जानकारी दो प्रकार से की गई। एक विधि द्वारा एक निषेध द्वारा। जीव में चैतन्य है किन्तु रुपित्व नहीं है।

अन्य विषयों की तुलनामें भिन्न २ वता कर विधि एवं निषेध रूपसेआत्मा का लक्षण कहा जाता है इसी पर पूर्ण तत्व की आधार शिला टिकी है। याने विधि निषेध द्वारा वस्तु की व्यवस्था होती है।

काला पीला नीला लाल सफेदपना, खट्टा मीठा कड़वा चरपरा कषायला रस तथासुगन्ध, दुर्गन्ध और हलकाभारीपना आत्मामें नहींहै। पुद्गलमें ही वर्णादिक का योग है। व्यवहारिक दृष्टि वन्ध सहित होने के कारण जीवको मूर्तिक कहा है। कारण कि जीव संसार में देहसेभिन्न नहीं हुआ। औदारिक, वैक्रियक शरीर स्थूल है यदि यह छूट गया तो औरअन्य शरीर मिलने में २-१ समय का अन्तर है तो वहां भी तेजस कार्मीण तो रहते ही हैं।

मतलब यह है कि वर्णादिमानशरीरोंके साथ जीव संसार अवस्था में निरन्तर रहता है अतएव व्यवहार से वर्णादिमान् जीवको कह लिया जाय तो वह एक दृष्टि है। यदि जीवके साथ वर्णादिक तादात्म्य मानने का हठ ही किया जावे तो यह दोष आता ही है कि फिर जीव और अजीव में भेद ही नहीं रहा। इस का कारण यह है कि वर्णादिक भावक्रम से अपने विकास को प्रकट करने व विलीन करने की पद्धति रह कर पुद्गल द्रव्यके साथ ही अपनी वर्तना रखते है अतः वर्णादि का जिस के साथ तादात्म्य है वह पुद्गल द्रव्य है। इसी पद्धतिसे तादात्म्यपना होता है। परन्तु, तुम मानते हो कि जीवके साथ वर्णादि का तादात्म्य है तो पुद्गलका ही लक्षण जीवमें गया।लो अव पुद्गलसे भिन्नकोई जीव ही नहीं रहा।

जिज्ञासु को जीव के वर्णादिक के वारे में शंका हुई। तब उसका समाधान किया जहां कहीं वताया भी है जीवके वर्णादि वह विरोध तो नहीं हैं किन्तु दृष्टि भेद है। केवल जीव का स्वरूप निहारने पर वर्णादिक नहीं है, तथा संसार अवस्थामें देह और जीव का सम्बन्ध होने पर दृष्टि देने से उपचार से वर्णादिक हैं। व्यवहार इस तरह से बन चुका कि रूप, रस,गन्ध ,वर्ण जीव का साथ नहीं छोड़ते। तेजस एवं कार्माण तो एक समय मात्र को जीव का साथ नहीं छोड़ते। अन्यमतानुयायी भी सूक्ष्म शरीर को सदैव जीव का साथ मानते हैं। तेजस, कार्माण के द्वारा शरीर कानिर्माण होता है। यह दोशरीर तो सदैव रहते ही हैं, तथा औदारिक या वैक्रियक शरीर भी कुछ समयका अन्तर होने पर मिलते रहते हैं। संसारावस्था में ही नहीं किन्तु यह तो निश्चय कर लो की यह जीवके ही हैं। यह एक जिज्ञासु का प्रश्न है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं:-

जदि संसारत्थाणं जीवाणंतुज्झ होंति वण्णादी
तम्हा संसारत्था जीवारूवित्तमावण्णा ॥६३
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदोविय जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४

हे मूढ़मते यदि तुम्हारे आशयमें संसारी जीवों के वर्णादिक होते हैं तो संसारी जीव रूपी पने को प्राप्त हो गये रूपीपन को प्राप्त तो पुद्गल द्रव्य है अब रूपीपन को प्राप्त उस लक्षणसे जीवभी हो गया। अब तो आगे यह कहना पड़ेगाकि निर्वाणकोप्राप्त होता हुआ भी पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त हो गया। देखो—यदि संसारवस्थामें जीवके वर्णादिक है ही यह माना जाय तो यह दोष आयगा कि संसारी जीव रूपी हीं हो गये और जो रूपी है वह पुद्गल हैतो मुक्त होने पर भी जीवके वर्णादिक कहना पडेगा। अथवा यों मानना होगाकि पुद्गल ही मोक्षको प्राप्त होगया। संयोगमें सर्वस्व मानने वालोंके लिये जीवकेवर्णादिक हैं। चाहे वह यह भी मानें कि मुक्तावस्था में जीवके वर्णादिक नहींहै तो भी हठपूर्वक अथवा स्वरूपमें सयोग मानने से जीव रूपी कहलाने लगा,तथा जो जो रूपी होता है वह पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल का जीवके साथ

तादात्म्य मानने पर जीवके मुक्त होने पर पुद्गल ही मुक्त हो गया यह सिद्ध हुआ। मोही जीवों ने शरीर, धन, पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब, मकान, जायदाद को अपनी मानली है। मोही जीवके अगर यह बात पैदा हो जाय कि शरीर भी अपना नहीं, मैंने व्यर्थमें शरीर को आत्मा मान लिया है। शरीर को अपना माननेसे रूपी मानते ही थे। कुछ ज्ञान होने पर अज्ञानी जीव को यह समझ में आयाकिसंसारावस्था मेंही रूपी थे। जीव का स्वभाव रूप, रस गंध एवं वर्ण से रहित है। यह उसका रंचमात्र भी नहीं है। जीव में प्रधान तत्व आत्मा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग अन्य धर्मों में कहा है तथा जैन धर्म में भी कहा है तब इस में ऐसी विशेषता क्या जो जैन धर्म को प्राण पण से पालन करे तथा अन्य धर्मों से मन को हटा लेवे। अब अगर ऐसी बात है कि अन्य कोई विशेषता नहीं तो जिसका जहाँ मन चाहेगा उसे पालन करेगा। अन्य मनुष्य कहने में भी नहीं चूकते, वह तो सब धर्मों को समानकहते हैं उन्हे परीक्षा करने की आवश्यक्ता नहीं, फिर भी भोले प्राणी तोसरल मार्ग पर शीघ्र चल पड़ते हैं। कठिनाइयों से बचने वाला जीव सरलता से जीवन यापन करने में खुश हो कर सुखी मानता है। वह सोचता है बन्धन जितनेहटे उतना अच्छा पर वहां इन सबकी मूल में ही भूल है। ऐसे भोले जीव धर्म के स्वरूप को नहीं समझे। यथार्थ में वस्तु स्वरूप को यथार्थ जानना धर्म है। जैन धर्म में वस्तु का स्वरूप यथार्थ दर्शाया है यही विशेपता है। तो जितने तत्त्व हैं वह सब सत् है। प्रत्येक द्रव्य स्वतः सिद्ध है और स्वयं सत् है। तथा प्रत्येक द्रव्य अविभाज्य है। पहले कुछ नहीं था और नया द्रव्य कहीं से पैदा हो जाय यह बात नहीं है, यह पूर्णतया भूल से भरा रास्ता है। अगर ईश्वर ने जगत को बनाया तो उसके बनाने के पहले क्या था? कोई कहेगा आकाश था, वह भी किसने बनाया वह कहते हैं,। ईश्वर ने इच्छा मात्र से बनाया है, ईश्वर ने ही अपने उपादान से विकासित हो कर जगत का निर्माण किया या अन्य पदार्थ का उपादन बन कर जगत का निर्माण किया तब तो सम्पूर्ण जगत ईश्वरमय हो गया। फिर चेतन अचेतन सभी वस्तुयें ईश्वर के स्वरूप के अनुरूप होना चाहिये। यदि इनका उपादान

ईश्वर नहीं तो जिन तत्वों से सृष्टि की वे तत्त्व पहिले से ही थे उनका विशेष रूप वना दिया होगा। अगर ऐसा कहोगे तो प्रत्येक वस्तु का स्वतः सिद्ध होना अनिवार्य हो गया। जव कि प्रत्येक द्रव्य अलग अलग हैं । सब द्रव्य स्वतः सिद्ध हैं। पर्याय को ही जो द्रव्य मानते हैं तब उसका पलटना नहीं होना चाहिए था किन्तु प्रत्येक द्रव्य क्षण क्षण में परिणमन रहे है। कोई द्रव्य किसी अन्य को निमित्त पा कर भी परिणामी हो जाय तो वह भी स्वतः सिद्ध हुआ। आत्मा स्वतः सिद्ध है, स्वतः परिणामी है उनमें अन्य की सहायता की जरूरत नहीं है। अतएव बनना, विगड़ना और बना रहना तीनों बातें सिद्ध होती हैं । आप हम सब एक एक पदार्थ हैं, बनते, विगड़ते और बने रहते हैं । मनुष्य बन गये, पशु बिगड़ गये, आत्मा वही बनी है। जो बनता है वह पर्याय बनती है। तथा पूर्व की पर्यायविगड़ती है, जीव वही रहता है। आत्मा में वर्णादिक तादात्म्य नहीं होता है। जीव सदैव अजर अमर है। कर्म मूर्त हैं । और आत्मा अमूर्त है आत्मा को छोड़कर कर्म अलग रहते नहीं हैं। किन्तु इस दृष्टि को छोड़ आत्माको तत्वकी दृष्टि से देखना चाहिए। दोनोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। एक समय को भी आत्मा रुपी नही बनता है। भूलसे भी मान बैठो तो स्वभाव का कहना है, यह मैं कभी भी अन्य रुप नहीं होता खेल तो देखो स्वभाव तो अन्य रुप बनता नहीं किन्तु मोही जीव अपने को रुपी मानता रहता है। यह तो वैसा है जैसा सभी ज्ञानी जान सके। जैसे पुरुष कैसा है क्या वहकिसी का बाप है। क्या वह किसी का पुत्र है। वह तो जैसा है वैसे सभी जानेंगे। एक स्थान पर अनेक देश के आदमी इकट्ठे किये जाय वे जैसा इसे देखें सो सही सब एकसा देखेंगे। और एक दूसरे का रिश्ता जानने या नाम जानने को कोई भी कुछ नहीं बता सकेगा। जब तक उसको दूसरे व्यक्ति के द्वारा परिचय न मिल जावे बात यह है कि अन्य बातें तो कल्पित हैं। नाटक में किसी मनुष्य को राजा बना दिया जाय तो वह अपने को वैसा ही अनुभव करने लगता है। जैन धर्म में स्याद्वाद् का वर्णन है वहीवस्तु स्वरूपहै और वही अनेकान्त का निर्देशक है। जीव उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त हो कर संसार में रहता हुआ स्वभाव में अन्तर नहीं आता है। माँ अपने बच्चे को

पीटती भी है किन्तु क्या उसके प्यार करने के स्वभाव में अन्तर आता है ? नहीं, सद्गुणों को लाने के लिये माँ बच्चे को ताड़ित करती है। वैसे हीआत्मा अनेक पर्यायों में भटक कर तथा अनेक रूप धारण कर भी निज स्वभाव नहीं छोड़ता। स्वभाव हमारा सदा से रक्षा करता आया है वह कभी भी अन्यरूप न हीं हुआ हमने पर्याय से चाहे कुछभी ऊधम किया। यह मोही पर वस्तु रूप भी अपने को मान बैठा था, वह परवस्तु रूप संसारावस्था में भी नहीं है। पुद्गल को छोड़ अन्य द्रव्योंमें न पाया जाये वहतो रूपित्व है। जो जो रूपी है वह जानता नहीं। आत्मा सदा जानता है वह संसारावस्था में स्वहितैषी है। चार्वाक, अर्थात् सुन्दर लगने वाला वचन। जिसका है या जिसकी वार्ता मन को मोहित कर लेवे उसके सिद्धान्त पर चलने को अधिक मात्रा में तैयार हो जावे यथा जब तक जिओ तब तक अन्याय करके भी मौज करो, क्योंकि यहां आत्माका अभाव मान लिया हैं। तब तो उन्हें परलोक से कोई प्रयोजन नहीं रहा किन्तु जब चार्वाक भी मरते है तो वह पाच तत्त्वों से यह नही कहते कि पृथ्वी पृथ्वी में समावे, वायु वायु में, अग्नि अग्नि में, जल जल में, समावे। यह सब न हो कर प्राणों को बचाने के लाले पड़ते हैं।

सब इंद्रियों को संयमित करके जो जो अनुभव में आता है वह परमात्मा का तत्त्व है। स्वानुभव ज्ञान और चारित्र दोनों के द्वारा वह साध्य है। स्वानुभव का उपाय चारित्र है। इस चारित्र के द्वारा अन्तरङ्ग की बात साध्य है। वर्णादिक जीव में नहीं है कल्पना से मान लिया है एक लाख रूपये की हवेली बनवा कर कहते हैं यह मेरी है। सफाई करने वाला भंगी भी उसे अपनी कहताहै। यथार्थ में दोनों की नहीं कल्पना से तीन लोक के राज्य को भी अपना कहोवह अपना नहीं अपनी वह वस्तु है जो सदैव अपने पास रहे। कल्पना की थकान होने पर गद्दे तकिये भी आराम नहीं देते। ज्ञान का आराम पाने पर कंकड़-पत्थर पर सो कर भी आराम मिलेगा।

यह वार्ता चल रही है कि जीवके वर्णादिक नहीं हैं। मुक्तावस्था में भी नहीं हैं। संसारावस्था में भी वर्णादिक नहीं है। वर्णादिक तो पुद्गल में पाये जाते हैं। क्योंकि वह रूप रस गंध वर्ण से सहित होता है। प्रश्न होता है एक इन्द्रिय

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेंन्द्रिय तो जीव हैं तथा यह पर्याप्त व अपर्याप्त भी होते हैं। संसारी दो तरह के होते हैं, (१) त्रस (२) स्थावर। यह जीव हैं। मुख्य प्रश्न है ? प्रकरण चल रहा है अध्यात्म का चूंकि जीव तो एक चेतना मात्र है। जिस स्वरूप जीव है वह शुद्ध है, शरीर से रहित है शरीर उसका साथी नहीं तो उसको मारो काटो छेदो उसका अपराध क्या ? इस पर उत्तर देते हैं यह नहीं कहना चाहिए कारण जब तक जीव संसारावस्था में रहता है तब तक शरीर नियम से होगा, मुक्त होने पर शरीर नहीं रहेगा व्यवहार से ये सब एकन्द्रियादिक जीव हैं। इनके विरोध, विराध की प्रवृत्ति होने पर अपराध होता ही है। हां शुद्ध स्वरूप का वर्णन है इसलिये ऐसा कहा गया है कि निश्चय नय से चेतना मात्र जीव है। मारना काटना छेदन कीचर्चा उठने से जीव की द्रव्य हिंसा होगी जो महान अनर्थ होने पर घोर पापबंध अर्थात दुर्गति का कारण होगा। भैया एकेन्द्रियादिक तो जानते हीहोंगे सब। एक त्यागी थे जो शास्त्र सभा में प्रश्न कर रहे थे कि जानते हो एक इन्द्रिय से लेकर पंचेंद्रिय जीव तक कौन कौन होते है। प्रायः कई जगह शास्त्र सुनते जायेंगे और कहेंगे धन्य है महाराज स्वीकृतिरुप सिर हिलाते जायगे, कोई कहे समझमें आयाकि नहींतो हां के अतिरिक्त अन्य उत्तर नहीं देंगे। त्यागीजी ने पूछा पंच इन्द्रिय जीव किसे कहते हैं तो उत्तर मिला हाथी को क्योंकि उसके चार पैर होते हैं और पांचवी सूंड़ होती है। तथा चार इन्द्रिय ? घोड़े को क्योकि उसके चार पैर होते हैं। सूंढ नदारत है तीन इन्द्रिय जीव ? (तिपाई) के लिए जो दांय का अनाज उडाते समय काम में आती या गाय भैंस लगातें समय काम आती है। दो इन्द्रिय जीव हम हैं क्यों हम और हमारी स्त्री दोनों है लड़के बच्चे नहीं है अतः दो इन्द्रिय हैं तथा एकेइन्द्रिय जीव किसे कहते हैं। उत्तर मिला महाराज जी एक इन्द्रिय जीव आप हैं क्योंकि आप अकेले ही हैं। इस तरह कुछ श्रोता इसी धुन के होते हैं खोजने पर यहां वहां मिलजायंगे। सही तरीके से एक इन्द्रिय जीव आदि इस तरह हैं एकन्द्रिय जीव जिसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय हो। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति (वृक्ष आदि) दो इन्द्रिय जिसके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियो हो। जैसे लट केचुआ, कौंड़ी' शंख

तीन इन्द्रिय जिसके घ्राण व पूर्व की दो इन्द्रियाँ हों । जैसे चिऊटी, चींटा बिच्छू. तिल्ला चार इन्द्रिया जिसके पहिले तीन इन्द्रिय के साथ चक्षु और हो जैसे भ्रमर' वर्र, मक्खी पाँच इन्द्रिय पूर्व की चार इन्द्रियों के अतिरिक्त कर्ण भी हो । जैसे मनुष्य , गाय, भैंस, बकरी, सर्प, आदि । इनकी बनावट क्रम से है । शरु में या सभी जगह स्पर्शन इन्द्रिय, रसना उसके बाद तथा उसके ऊपर घ्राण, बाद में चक्षु तथा उसके पश्चात् कर्ण की रचना है। इन इन्द्रिय वालों के विषय में शिष्य की शंका थी ता उस पर कहा जा रहा है कर्म सिद्धान्त की प्रकृतियों में, एकेन्द्रिय प्रकृति, दो इन्द्रिय प्रकृति, तीन इन्द्रिय प्रकृति, चार इन्द्रिय प्रकृति, पर्याप्त प्रकृति और अपर्याप्त प्रकृतियां यह सब पौद्गलिक जड़ से उत्पन्न हुई हैं फिर इन्हे जीव क्यों कहते हो ? शरीर है सो जीव नहीं है, अन्य पदार्थ क्या जीव हैं ? जीव चैतन्य शक्ति मात्र है। जब विपत्ति आ पड़े तो अपने को बचाओ अपना कार्य बनाओ यह भी है चैतन्य शक्तिकी कए झलक वस्तुतः मलिन जीव अपना विषय कषायका ही भाव बना पाते अन्य को क्या करें काम क्रोध, लोभ विकार जिसका प्रबल हो वह जीव क्या अन्य को मारेगा, पीटेगा ? कषाय पैदा हुई और उस म वह गया इतना ही किये । कोई उपाय से विषय कषाय कम नही होती । वातूनी भेद विज्ञान से भी नहीं घटती । विषय कषाय तत्त्व के निर्णय से पलाय मान होते है । चोरों ने पशु चुरा लिये सवेरा होने पर पशु भाग गये, चोरवैसे ही रह जाते है । उसी तरह विषय कषायोंने तत्त्वको चुरा लिया है। चोर किसी घरमें घुसा और उसघर में अगर कोई बुढ़िया हुई तो उसके खाँसने मे जैसे चार भाग जातेहैं. उसी तरह तत्त्व ज्ञान से सजग रहने वाले मनुष्य के पास से विषय कषाय रूपी चोर आहट पाते ही रफूचक्कर हो जाते हैं। चोरों को प्राण बचाने के लिए दरवाजा खोजना जरुरी हो जाता है, उसी प्रकार विषय कषायों के विकारों के परमाणुओं को अपना स्थान अन्यत्र खोजने की आपत्ति आती है । अग्नि हाथ पर रखने से अपना ही हाथ जलता है उसी तरह क्रोध से अपना सर्वांग नुकसान होता है । मान करने वाले का अपमान ही होता है तथा घमंडी माना जाने से अन्य मनुष्य व्यवहार तक भी नहीं रखते । २२

लोभी की दशा तो किसी से छिपी ही नहीं जो कि अपने धनका स्वयं न भोग कर सकता है और न दान दे सकता है तथा दूसरे ही उस पर ऐश करते हैं एवं लोकमें कंजूस, लोभी आदि उपनामों से पुकारा जाता है। मरते समय विषयों के छोड़ने का दुख होता है। नेतागिरी, इज्जत, कीर्ति आदि यहीं रहीं जा रही हैं, स्त्री पुत्र आदि कोई साथ नहीं दे पा रहा इनका दुखमात्र पल्ले पड़कर रह जाता है। स्वतन्त्रता का बोध हो जाय तो सोचे यहां से मरने के पश्चात अन्य स्थान पर अपना अनुभव करूंगा पर पदार्थ तो मेरे हैं नहीं उन्हे अपना मान कर मैं क्यों दुखित होऊं। जो अपनेको मरनेका अनुभव न करे सो अमर, वृद्धावस्था का अनुभव न करे सो अजर। जो अपने को मनुष्य अनुभव सो मनुष्य और मनुष्य अनुभव न करके निजस्वरूप भावना करे सो शुद्ध चैतन्य मात्र परमात्मा तत्व है।

यहां मुख्य बात यह चल रही है कि एकेंद्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक एवं पर्याप्त प्रकृति तथा अपर्याप्त प्रकृतिसे और जड़से जो रचा गया उसे चैतन्य कैसे कहते हो? द्वन्द अर्थात दो से जकड़ा गया ऐसे द्वन्द में पड़े हुओं के लिये आचार्य की परम करुणा हुई है अगर एक ही रहते तो सुखी रहते दो का ही नाम संयोग है तथा जहां संयोग है वहाँ दुःख है। जो भी आकुलतामें है उसे समझना चाहिए यह पर पदार्थ से ग्रस्त है या उसे अपना समझ लिया है। आसक्ति हुई तब द्वन्दमें पड़ गये। देखने में आया है अकेले स्त्री होने पर वह कभी २ सुखसे जीवन व्यतीत करती है किन्तु जब किसी बालक को गोद ले लेती है तो सारी जायदाद तक बर्बाद हो जाती है और रोटी तक को तरसना पड़ता है। इस द्वन्द में जो पड़ा है वह द्वन्द मे है और इसमें जो नहीं है वह द्वन्दमें नहीं है। अन्यत्र भी कल्पना कितनी ऊंची है। रावण को जीतने के लिए रामचन्द्रजी जब गये तो साथमें वानरों की सेना ले गये उन्होने समुद्र को लांघ लिया था उससे रहस्य निकालो। वानरों ने समुद्र लांघा ही था किन्तु यह तो नहीं जाना था कि इसकी तह में कितने २ श्रेष्ठ रत्न हैं। इसी तरह हम शास्त्रों को पढ़ लिख गये पर यदि यह नहीं समझते कि इनोंमें कितना तत्वरूपी रत्न भरा है तो हम शास्त्रों को लांघ मात्र गये असली रहस्य उन्हीं में भरा रहा। तत्त्व जानने वाले को निन्दा एवं प्रतिकूलता से घबड़ाहट नहीं होती। उन रत्नों को

अन्तश्चारित्रसे टटोले। सांख्य लोग मानते है यह विश्व प्रकृति से रचा गया है० प्रकृति से अहंकार, अहंकार से गण, गण से इन्द्रियां, इन्द्रियों से पञ्चभूत उन का प्रयोजन क्या है कि यह बताना कि दृश्यमान यह जीव नहीं है। पढ़ लिख कर अधिक ज्ञान बढ़ावे, समझने के साथ मनन करें। अज्ञानी पढ़ लिख कर भी दुख सहकर भी उन्ही में फिरसे पड़ जाता हैं। स्त्री मर गई तो दूसरी शादी करली फिर भी दोनों के रहने पर कुछ समय बाद दो में से एक कोई पहले मरण को प्राप्त होगा, उनमें से किसी एक को पहले रोना पड़ेगा। संयोग समागम का फल रोना ही है। ऐसे में अपना हित नहीं सोचते तो फिर क्या किया जायगा ( अन्तरङ्ग पीड़ा के साथ सचेत करते हुए ) शब्द बोलते तो वाक्य बना, वाक्यों के द्वारा एक दूसरे को भाषा आपस में समझने लगे। इस जीभ से सत्य वचन बोललेवे या असत्य वचनों का प्रयोग कर लेवे। जीभ तो एक ही है। हाथों से दान दे लेवे जिनेन्द्रदेव की अर्चना कर लेवे या इन्ही हाथों से दूसरे को वध लेवे। नाक तो व्यर्थ की वस्तु प्रतीत होती है। कितनों की तो नाक पर ही झगड़ा चल जाते तथा जड़ मूढ़ तक से उसे हटाने को कोई मनुष्य तैयार हो जाते हैं। नाक के द्वारा सुगन्ध दुर्गन्ध के विकल्प जाल में फंस कर कुछ कार्य करने से कर्तव्य विमुख हो जाता है। आंख से सिनेमा, स्त्री पुत्र देख सकता हैं या शिमला गया तो वायसराय की कोठी देख ली। और चाहे तो मन्दिर जावे वहां जिनविम्ब आदिके दर्शन कर ले। कानोंके द्वारा या तो फड़कते हुए गाने सुन सकता है या तत्ववार्ता सुन सकता है। जिसने देखने सुनने, चखने, कहने, स्वाद लेने या देने लेनेमें मोह राग द्वेष हैं उसे कुछ भी अच्छा प्रतीत हुआ यह सब उन इन्द्रियों का दुरुपयोग करना है। देव शास्त्र, गुरू की सेवा करने, तत्व समझने में इन्ही इन्द्रियों को संलग्न किया तो जायसदुपयोग करना कह सकतेहैं। और तात्त्विक बाततो यह है कि सर्वोत्तम तो इन्द्रियों से अतीत चैतन्यमात्र की दृष्टि है। जिन्हे कोई सुन्दर कहता हैं वे सब क्या है सो सुन्दर शब्द स्वयं ही बता देता है। सुन्दर शब्दमें सु + उन्द +

है । मुनि की धारा समान प्रवाहित रहती है वह टूटती नही कार्य दोनों का चालू है, किन्तु उनका अन्तर निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मेल व माल गाड़ी दोनो एक रास्ते से जारही हैं, लेकिन जब मेल गाड़ी की सूचना ३या ४ स्टेशन पीछे से भी मिल जाय तो माल गाड़ी को पड़ा रहना पड़ता है तथा अगली स्टेशन जब पार कर जाय मेल तब माल को अवसर मिलता है। इसी तरह का अन्तर अश्रेणिगत मुनि और गृहस्थ के कर्मोंकी निर्जरामें व मोक्षमार्ग में रहता है । मुनि को संसार के भोग हेय हैं पर गृहस्थ उन्हें रुचि से भोगता है। मुनि रुखे अलोने भोजन से भी पेट के गडढ़े को भर कर सन्तुष्ट रहता है किन्तु गृहस्थ नई नई सामग्री भोजन में जुटाने पर भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता ज्ञानी गृहस्थ संतुष्ट रहता। मुनि के तृष्णाग्नि शान्त हो जाती है किन्तु गृहस्थ की खाई नहीं भर पाती।

मुनिकी कार्यव्यस्त प्रणाली प्रतिपल निर्जरा का कारण हो सकती है वहां गृहस्थ निर्जरा के विषय में अचेत जड़वत रहता है। जब कभी उसके भी निर्जरा हो जाती है। गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए बारह भावनायें सदैव हितकारी है। यह बारह भावनायेंमुक्तिमार्ग का विचित्र पाथेय हैं।

शास्त्रों का, सार जीव और पुद्गल को भिन्न समझ लेने में है। इन से मैं भिन्न हूं अतः इन किन्हीं भी परका मैं कुछ नहीं करता केवल इन का विषय करके मैं विपरीत अभिप्राय बना सकता मोही केवल पुद्गल पर्याय देखो कर विपरीत मति बनाता है। उसे अन्य की तो खबर ही नहीं जीव जुदा है पुद्गल जुदा है यह तत्वका निचोड़ है धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य भी हैं उन्हें देख कर विपरीत मती बनाता है यह क्यों नहीं कहा ! जीव का जो ध्यवसाय होरहा है वह पुद्गल को विषय बनाकर चलरहा है।धर्म द्रव्यको विषय करके कौन क्या सोचता है ,उसी तरह अधर्म ,आकाश और काल को विषय बनाकर भी कौन पुद्गल के समान रति करता है ! धन वैभव कोदेख कर एवं विषयों में बाधक जो पदार्थ हैं उन्हें देख कर अच्छे बुरे परिणाम करेंगे। जीव और पुद्गल के इस भेद को जुदा २ बताने वाले प्रथम तो रुपत्त्व और अरूपत्त्व मुख्य कारण हैं पुद्गल में रुप रस गंध वर्ण है अतः देह एवं पुद्गल रुपी है

प्रकरण यह चल रहा है, इन्द्रियां जो हैं उनका निर्माण जीव से नहीं है किन्तु वे पुद्गल से निर्मित हैं। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त शरीर रचना अपने ही आधीन है। सर्प कुंडली बनाये जंगल में पड़ा है वही चलने के लिए सीधा हो जाता हैं। तो यहाँ कर्ता कर्म करण वही सर्प हुआ। निश्चय से कर्म और करण एक होते हैं। सर्प की कुंडली सर्प के द्वारा ही बनी। पुद्गल से जो बनेगा वह पुद्गल और जड़ ही रहेगा। जिस के द्वारा जो वस्तु बनेगी वह उसी रुप रहेगी। सुवर्ण के द्वारा बने गहने सुवर्ण ही रहेंगे उन में चांदी की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह जीव स्थान हैं।

एक्कं च दोण्णितिण्णिय चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदेहिं णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करण भूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गल मईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो॥६६॥

चौदह के चौदह जीव समास की भी विभिन्न नाम कर्म की प्रकृतियां हैं बादर नाम कर्म, सूक्ष्मनामकर्म, पर्याप्ति नाम कर्म, जातिनामकर्म इनके द्वारा पुद्गल की रचना होती है इनके द्वारा बना पुद्गल ही है। दूसरा कर्मों का कार्य शरीर है। इस पर यह जीव इतना मुग्ध हो रहा है। पुराणों तक में उनके रुप रंग, हावभाव आदि को लेकर शरीर का भी कितना विचित्र वर्णन जगह २ पर किया गया है। यथार्थ में शरीर मैं नहीं हूं। यह जड़ है। शरीरसे पसीना आता है, बदबू से युक्त रहता है तब भी इसे अनेक विलेपनोंसे सजाया जाताहै। क्या आत्मामें भी पसीना आताहै? जीवमें तो यह वस्तु नहीहै। अथवा भैया शरीर को क्या अपवित्र कहें, अपवित्र तो मन्मुख रागादि भावहै। जीव मे राग द्वेष, मोह की अपवित्रता नहीं होती तो औदारिक, वैक्रियक शरीर की वर्गणायें बड़ी अच्छी थी राग द्वेष से युक्त जीव बना सो ग्रहण की हुई वर्गणायें शरीर रुपवत बन गई शरीर आदि तो कालकृत हैं। मांस हड्डी, चर्बी एवं शरीर की धातुएं क्या अपवित्र हैं? पुद्गलमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना करके पवित्र अपवित्रमान लिया है। इसमें सब राग द्वेष का नाता है। इसने हो सब

मलियामेट कर दिया है। एक वृद्धपुरूष था उसके नाती पोते बहुतसे थे ।. वह सब बुड्ढ़े को कोई मुक्का मारतां, कोईमूंछ पटाता, कोई मलमूत्र भी ऊपर कर देता अपशब्द कहते आदि । यह कृत्य प्रतिदिन चालूहै वहांसे एक साधु निकला, उसने ठहरकर वृद्धसे कहाक्यों रोते हो? वृद्ध बोला बच्चे मारते पीटते, गाली बकतेहैं । साधुने कहा यह दुखतो अभी हाल मिटजायगा । वृद्धबड़ा खुश होकर कहनेलगा इससेऔर अधिक क्याचाहिए"सूर मांगे दोआंखे"। तब साधुजी ने कहा इन सबको छोड़कर हमारे साथ चलदो । इसपर वृद्ध उत्तर देताहै। साधुजी हमारे यह पोतेहै हम उनके बाबाहैं, मारते जरुरहै दुखहोताहै किन्तु हम उनके मुंहसे बाबा कहना सुनकर खुशभी तो होतेहै । वह हमारे पोतेतो नहीं मिट जावेगे। दूसरा उपाय बताओ । जीवको कितनी आपत्ति लगी है जो।पदार्थ राग द्वेषका कारण बनताहै उसीके प्रति यह अज्ञप्राणी आकर्षित होताहै धनइतना हो गया, इतना और चाहिए इसतरहके विल्कप जाल सदैव बुनता रहताहै इन पर पदार्थो से न निजी हित सधता है और न बात बनतीहै । फिरभी उसी कीचड़में लिप्त होना चाहताहै। भगवान महावीर स्वामीकी स्तुति करते समय महावीराष्टक में कहाहै:-"महामोहातङ्क प्रशमन पराकस्मिकभिषग् । निरापेक्षो बन्धुर्विदित महिमा मंगल करः । शरण्यः साधूनां, भवभय मृतामयुत्तम गुणो महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे।

जो महामोह रूपी आतंक को नष्ट करने में आकस्मिक वैद्य हैं । भगवान महावीरस्वामी एक अकस्मिक वैद्यहैं निरापेक्षबन्धुहैं । भवभयधारी साधवः को एक शरण्य हैं ऐसे महावीरस्वामी नेत्रपथगामी रहो। यहाँ मोह उजाड़ने की विशेषता पहिले कहा वे थे भी बाल ब्रह्मचारी एवं कुमारवैरागी ।

कदाचित ज्ञान भी हो जाय तो भी मोह की बात कह जाताहै कोई मौलिक अविरक्त मरते समय कहता है,तुम हमारे कुल की लाज रखना ।, राग द्वेष रुपी मोह भट पिन्ड नहींछुड़ाता अपने आपको अनुभवभी करते है फिर भी कहते लाज रखना । पर पदार्थ को दुख का कारण जानने पर तथा अपनी सत्ता स्वतन्त्र अनुभव करनें पर भीपर की परिणति से अपना दुःख परिणमन बनाते है ।पहलेके भ्रमसे फिर भी भ्रमको प्राप्त होते हैं ।

साधु हो कर उपशम श्रेणी चढ़ कर वीतराग बन कर भी ११वें गुण स्थान में अर्धपुद्गल परावर्तन तक मिथ्यादृष्टि रहता है। कहां ,११वें गुण स्थान वर्ती और कहां अपन इन दोनों की असावधानी में अन्तर देखो वे हम से बहुत उच्च है फिर भी हम और आप कितने पर्यायों से ऊंचे उठे हुए हैं। यहाँ कोई यह न सोचे कि हम तो धनी है, ज्ञानी है, व्रती है, हमें अपराध करने पर भी कुछ सहूलियत मिल जावेगी। यहां धनवानों को दंड मिलनेमे कुछ सहूलियत मिल जाती है। किन्तु क्या वह अधिक पाप मय प्रवृत्ति भी करते रहें और उन्हे कम बन्ध होगा ? यह नही हो सकता, निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि कालीन है इसकी बात सब पर एकसी गुजरती अधिक अ पराध करने वाला भी लोक में तो वह अपराधी माना जाने से दोषी सिद्ध हो चुका। व्यवहार में लोक दंड कुछ होता रहा।

एक जंगल में फकीर रहता था। वहां एक सेठ का लड़का सोने हीरा आदि के आभूषण पहने पहुंच गया। उस फकीर साधु की नीयत बिगड़ गई सो उसने लड़के के सब गहने उतार लिए और गला घोंटने लगा तब बच्चा बोला साधु जी इतना अन्याय मत करो। साधु ने कहां यहां कौन देखता है। तब लड़के ने कहा ये बुलबुले जो उठ रहे है पानी के वे तेरे पाप की बात को कह देंगे। साधु हंसने लगा तथा उसकी जीवन की लीला समाप्त कर दी। बड़े आदमी का लड़का होने से खोज बीन की गई। कहीं पता नहीं चला, तब एक खुफिया पुलिस गुप्तचर सिपाही साधु के पास भक्ति दर्शाता हुआ रहने लगा। बड़ा विश्वास जमा लिया १ वर्ष बाद पानी गिर रहा था और पानी में बुलबले उठ रहे थे। उन्हे देख कर साधु को हंसी आ गई तब गुप्त चर ने पूछा आपको हंसी किस कारण से आ गई है। साधु ने सोचा यह एक वर्ष से सेवा कर रहा है बड़ा भक्त है अतः कह ने में क्या नुकसान है। साधु ने लड़केका मारने का सर्व वृतान्त कह सुनाया। गुप्तचर ने सूचना पूलिस में दे दी और साधु पकड़ा गया। कोई सोचे प्रच्छन्न पाप है कौन देखता है ? कौन क्या कहेगा , यह सोचना निरर्थक है। क्योंकि सर्व प्रथम अतोपने पापों को अपनी आत्मा ही देखती है। जो जैसा कर्म करेगा

उसे फल नियम से भोगना पड़ेगा प्राय:कर प्रत्येक गांव में अपरिचित मनुष्य आदमी कहने लगते यह फलाना गांव हैं यहाँ फूंक फूंक कर पांव रखना। मानों यह कह कर डराते हैं। यह संसार है इस में विवेक पूर्ण कार्य करना। जैसी करनी की है उसके अनुसार परिणति बनेगी। आत्मा को विकल्प का कारण निरर्थक में बनाया है। बाह्यपदार्थ का संग करना अशांति का कारण है। यह तो संसार जुवारियों का निवास है, पुण्य में हर्ष व पाप में दुःख की जीतहार है। जुआखेलने में से कोई जुआरी हटना चाहे तो दूसरे साथके जुआरी हटने नहीं देते कहेंगे ऐसे खुद गर्जी हो जीत कर चले। कोई हार जाये तो कहेंगे बस इतना ही दम है सो खेलने में फिर जुटा देंगे। वहां से हारने न जीतने वाले दोनों नहीं आपाते जब तक सब तरहसे बर्बाद नहींहो जाते प्रत्येक जीव जुआरी है। पुण्य में जीतना मानता है,पाप में हारना मानता है। पुण्य के फल में हर्ष और पाप के फल में विषाद करता है। सुख दःख मानने वाला यह जीवही है। किसी को मालूम हो जाय कि यहां से निकल भागना चाहिए फिर भी अन्य साथी रोक लेते हैं और यह अपने हित से वंचित रहता है चींटी चढ़ते चढते छत से गिर गई तो चढ़ना निरर्थक रहा। धर्म करते करते अन्त समय में मरण बिगड़ गये तब सब प्रयास प्रयोजनभूत नहीं हो पायेगा।

गुरुवर्य श्रीमद् गणेशप्रसादजी वर्णी कथा सुनाया करते थे। दो भाई थे। उन में छोटा भाई पूजन करे तथा बड़ा दुकान संभाले। छोटा भाई बड़े भाईसे कहता तुम न पूजन करो न अन्य धार्मिक कार्य। तब बड़े भाई ने उत्तर दिया मेरे भी तो कुछ अच्छे परिणाम होगें तभी तो तुम्हे पूजन करने की अनुमति दी है। छोटे भैया के मरने का समय आया तो बड़े भैया से बोला ये नन्हें मुन्ने तुम्हारी गोद मेंहै तब बड़े भाई ने कहा अरे बेवकूफ ! यही धर्म किया और बोला इस धन में से जितना दान धर्म करना चाहे करले और चाहे सारा धन बच्चों को लिख दे मैं तो एक कुटी में ही रह जाऊंगा। इस पर छोटे भाई ने सोचाधन दानकेविकल्प में क्यों पड़ूं ? मेरातो सचमुच आत्मा ही है। उसने ज्ञान संभाला और बड़े भाई से समाधी मरण के द्वारा मनुष्य जन्म सफल किया। उपशान्त मोह में यही बात रहती है जो ज्ञानीहै उनको सब क्षणों धर्म में वृत्ति

ही रहेगी। इन जड़ पदार्थों की रति में पांडवों कौरवों को क्या मिला। राम, रावणके बारे में आज यहभी नहीं मालूम कि कौनसी लंका थी, कौनसा दंडक वन आदि। संयुक्तानां वियोगश्च भवितः। हिनियोगतः। किमन्यं रंगतो अप्यंगी निःसंगडो हि नियर्तते।

वियोग होने वाले के संयोग का निश्चय नहीं है। संयोग का वियोग नियम से होता है। वियोग दुःख का कारण है। संयोग में जो सुख मानते उसी में दुःख है। ८ कर्मो का संयोग हो गया तो क्या मिला। भोग भूमि में पुरुष स्त्री एक साथ पैदा होते और आयु पर्यन्त भोग भोग कर मरते हैं। किन्तु उन्हें तीसरा स्वर्ग भी नहीं मिलता। दूसरे स्वर्ग से आगे भोग भूमियाँ के जीव नहीं जा सकते। जहाँ वियोग है, क्लेश है उस भूमि के मनुष्य भी पाते, भूख प्यास यह सब देह के संयोग से होते हैं। अगर यह कर्म आत्मा से छूट जावें तो सुख ही सुख है। सुख दुःख और आनन्द तीन परणतियाँ हुआ करती हैं। सुख का अर्थ है इन्द्रियों को सु माने सुहावना लगे तथा दुःख का अर्थ है जहाँ ख माने इन्द्रियों को दुः याने बुरा, असुहावना लगे। ये दोनों विकार है, आकुलतारुप है। परन्तु आनन्द अनाकुलतारुप है। इसका अर्थ है आसमन्तात् नन्द : आनन्दः। जो सब ओर सेसपृद्ध बनावे वह आनन्द है। मेरा आनन्द मेरी आत्मा में है वीतराग प्रभु की शरण मिल रही यह बड़ा अच्छा सौभाग्य है। पर इसकी रफ्तार बनाना है। यह विज्ञान कोबढ़ा कर, रुचि पूर्वक चाव से एवं उत्तम वृत्ति से धर्म करे।

पर्याप्त, अपर्याप्त बादर सूक्ष्म पुद्गल की पर्याय है यह शास्त्रों में कहा है। फिर भी वह भी शास्त्र है यह भी शास्त्र है। यहां निरपेक्ष दृष्टि से देखो वस्तु स्वरूप में यहां वहां की बात न मिला कर सही लक्षण कहो। एक का उपचार अन्य में न कर के वास्तविक बात बताओ। जीव आनन्द घन है, आनन्द का पुन्ज है, अपनी शक्तियों में तन्मय बादर सूक्ष्मादि देह है इन में जीव की संज्ञा का कहना उपचार है जीव की बात जीव में हैं। पुद्गल और जीव का निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध हैं। एक अच्छे कुल का लड़का अच्छे आचार विचार से रहता हुआ कभी कोई खोटी सगति में

आगया, तथा उसके बारे में अनेक चर्चायें चलें तब भी उसके निजीबन्धु कहते हैं, इस में उसका दोष नहीं है किन्तु अमुक व्यक्ति की आदतें इसमें आगई है। इस में न राग है और न द्वेष संगति से जीव में यह विकार आगया है। मैं कितना शक्ति शाली हूं अलौकिक ज्ञान का पुञ्ज हूं, सिद्ध समान हूं। जैसे सिद्ध का द्रव्य है, वैसा मेरा भी द्रव्य है। जिन उपायों के द्वारा वह सिद्ध बने उन्हीं से मैं भी बन सकता हूं। परणतियां निर्मल बनाऊं तो क्यों नहीं उस उत्कृष्ट पद को पा सकता हूं।

द्रव्य वह है जो जैसा प्रभु है। जो सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र के पथ में चलेगा वह मुक्ति के पथ में क्यों नहीं पहुंचेगा ! जरुर पहुंचेगा। मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र के फन्दे में पड कर संसार में रुकना ही पड़ेगा। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करके मोक्ष पथ में चलना ही पड़ेगा। एक स्थान पर लिखा है, तुम्हारे सामने एक खल का टुकड़ा रखा है तथा एक रत्न रखा है तुम इन में जो मांगो वह मिल जायगा। अगर वह खल का टुकड़ा ही मांगने लगे तो उसे क्या कहा जाय वही रत्न पाने से वंचित रहेगा। एक ओर मोह राग द्वेष हैं और एक ओर मोक्ष मार्ग है। आजादी ही है तू जिसे चाहेगा वह मिल जायेगा यदि वहां कोई राग द्वेष विषय कषाय लौकिक सुख हो मांगने लगे तो क्या किया जाय। वही मोक्ष मग माने शान्ति पथ से वञ्चित रहेगा।

भैया पर की तो चाह ही चाह बनाई जाती है। परका कोई कुछ करता ही थोड़े है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ सब अन्य द्रव्यों से जुदा है। जीव सिवाय अपने मनदव के करता क्या है। कोई धर्म कार्य भी करता है, मंदिर बनवाता है, प्रतिष्ठा कराता है आदि तो केवल अपना पथ या अन्य कुछ आगे चाहता है, इसमें केवल उसने अपना भाव किया। विषय कषाय के साधन जुटाये तो अपना भाव किया। बच्चे जब खेल खेलते समय पंगत करते है तब पत्तें तोड़ लेते हैं। और बड़े पत्ते को पातल बना कर परोस लेते है तथा छोटे पत्तों की पुड़ी व पत्थर ईंट के टुकड़ों में लड्डू बर्फी आदि की कल्पना करकर परोसते हैं। तथा गरीबों के बच्चे उन्हीं में रोटी

की कल्पना करते तथा गुड़के टुकड़े की कल्पना करके परोसते हैं। यथार्थ में जिसको जो भाव मिलता आ रहा है वह उसी रूप अन्य पदार्थों को समझता है। यही दशा हम संसारी प्राणियों की हो रही है, अनादि काल से संसार में रहने से उसकी बात ही प्रिय लगती है, उसी की ओर जल्दी दृष्टि दौड़ जाती है। गरीब का लड़का क्यों नहीं बढ़िया से बढ़िया लड्डू पुड़ी की कल्पना कर लेता है! संस्कार बद्ध मूल हो चुके, जब उसे स्वादिष्ठ पदार्थ का रस मिलने लगेगा तब वह उसी रूप बर्ताव करने लगेगा। लोक में देखा जाता है। गरीब लड़का पढ़ कर ऊंचे पद पर आसीन होने से पैसा वाला हो कर एवं सभ्य तथा धनाढ्य समाज में रह कर उन्हीं जैसा खाने पीने कपड़े पहनने आदि में बर्ताव करने लगता है। ऊंचा भाव तो बताओ प्रत्येक जगह हम भाव ही तो करते हैं, तब वह कार्य रूप में परिणमते हैं। मान लो एक शत्रु है उसने बहुत अन्याय किया तथा मारने पीटने की धमकी दी। हम उस शत्रु का बदले में बुरा भला न कह कर तथा न बदले की भावना रख के प्रेम पूर्वक बर्ताव करें और कहें मैंने आपका कसूर किया था इसलिए आपको अपने परिणाम बिगाड़ना पड़े अब मेरे प्रति साम्य भाव रखें इन प्रिय वचन से उसे भी सन्तोष होगा तथा अपने लिए भी हर्ष रहेगा। तथा परस्पर प्रेम बढ़ेगा। मनुष्य की पहचान बोली से होती है। मुख तो एक धनुष है धनुष से जैसे बाण घाला जाता है उसी तरह मुख रूपी धनुष को फैला कर वचन रूपी बाण निकाला जाता है। बाण चलने पर उससे कोई हाथ जोड कर कहे तुम लौट आओ भूल से दूसरे पर छोड़ दिया तो यह सब कहना निरर्थक जायगा। सी तरह वचन मुख से निकलने पर कोई कहे हमारो बान हमें वापिस कर दो। तो जिसको अपशब्द कहा जाता है वह कहता है "पहले तो जूता मार लिए फिर कहते माफी दे दो" बड़े पन की कसौटी वचन ही है। जिससे खुद सुखी रहते तथा अन्य भी सुखी रहते हैं। एक समय लकड़ हारा लकड़ी बीन कर जंगलमें विश्राम कर रहा था। इतने में एक शेर जिसके पैर में कांटा लगा था, आया लकड़हारा डरा किन्तु शेर ने कहा डरो मत और आकर पैर

उसके सामने रख दिया। लकड़हारे ने चतुराई से कांटा निकाल दिया। इससे शेर बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा कड़ी हमारी पीठ पर रख दिया करो इस तरह लकड़हारा सिर पर २०-२५ सेर लकड़ी लाता २-२॥ मन तक शेर के पीठ पर लाने लगा जिससे वह खूब धनवान हो गया। एक दिन किसी ने पूछा आप इतने जल्दी धनवान कैसे हो गये ? लकड़हारा बोला एक नालायक गीदड़ (स्याल) उल्लू हाथ लग गया उस पर लकड़ी लाता हूँ। सिंह यह बात सुन कर अनमना हो गया। अब फिर से उसने तीन मन लकड़ी इकट्ठी कर ली थीं। सिंह इस दिन भी वहां आया और बोला जो कुल्हाड़ी आप अपने हाथमें लिए हो वह मेरे सिर मार दो नहीं तो मैं तुम्हे मार दूंगा अब तो लकड़हारे ने अपने प्राण संकट में पड़ते देख कुल्हाड़ी मारने को तैयार हो गया। सिंह ने भी गर्दन टेक दी और लकड़हारे ने कुल्हाड़ी का प्रहार करदिया तब अर्धमृतावस्थामें सिंह बोला इतना मुझे तेरेद्वारा इस कुल्हाड़ी मारने का दुःख नहीं है जितना दुःख खोटे वचन मेरे प्रति बोलने का है। कुल्हाड़ी की धारतो सह ली किन्तु वचन बाण की धार नहीं सह सका धर्मकी ओर आगे बढ़ने वाले को प्रिय वचन तो बोलना आवश्यक ही है क्योंकि जो किसी को कठोर वचन कहेगा उससे उसका दिल दुखेगा जिससे हिंसा पाप का भागी होगा। मौन का लक्षण है, मौन मुनेर्भावः मौनम्। मुनि का जैसा भाव जिसका हो वह मौन है मुनी के लिये अहिंसा, सत्य,, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत तथा गुप्त इन्द्रिय विजय एवं परिषह जय आदि कई बातें बताई हैं। किन्तु मौन की उन सब में चुप चाप रहने की प्रधानता ही है। यद्यपि जितने मुनि के काम है उन्हे मौन कहते हैं। तथापि कम बोलने वाला प्रिय वचन बोलना चुप रहना आत्म कल्याण के अति निकट है। अतः मौन की प्रसिद्धि यहां हुई जो बोली को सुधार कर उत्तम वचन बोलता है वह लौकिक कार्यों में भी सफलता पाता है।

कहीं राजा, मंत्री और सिपाही जा रहे थे। वह सब रास्ता भूल गये रास्ते में एक अंधा बैठा था। सिपाही अंधे से पूछता है, क्यों रे अंधे यहां से कोई निकला है ? उसने कहा सिपाही जीनहीं। इसके बाद मंत्री आया

उसने कहा ऐ सूरदास । इस तरफसे कोई निकला है ? कहा हां एक सिपाही निकला । दोनोंके वाद राजा आया तो कहता है– सूरदास जी यहाँ से कोई निकला है वह कहता है हां राजाजी ! पहले सिपाही निकला था वादमें मंत्री साहव । जव तीनों मिल गये तो कहा वह तो अन्धा था उसने कैसे वता दिया कि सिपाही व मंत्री निकले हैं । तीनों ने कहा अन्धे से चल कर पूछना चाहिए । तव उस से कहा सूरदास जी आप ने हम तीनों को कैसे पहिचान लिया था । तो सूरदास ने वताया–जिस व्यक्ति ने क्योंरे अन्धे कहा था वह सिपाही था, क्यों कि सिपाही की जितनी योग्यता होती है वह उसी तरह वोलेगा इस के वाद ए सूरदास कहने वाले मंत्री थे तथा सूरदास जी कहने वाला राजा था । तीनों का अनुमान मैंने उन की वोली वोलने से लगाया है । सफर में जव एक दूसरे से वात होती है तो सज्जन दुर्जन विद्वान, धनवान आदि का पता चल जाता है । अध्यात्मिक विकास के लिए वोली बड़ी प्रिय व्यवस्थित वोलना चाहिए । वोली जीव का गुण नहीं है । मैं भाषा का कर्ता नहीं, मैं केवल भाव ही कर सकता हूँ । मैं तो आत्मप्रदेश वाला हूं आत्मा और शरीर एक जगह इकट्ठे हो रहे हैं । भाषा पुद्‌गल की वर्गणायें हैं । मुंह में वायु का संचार होते ही यथा स्थान जीभ, ओंठ, दांत, तालु चलाने से अक्षर निकलते हैं जो भाषा रुप परिणम जाते हैं । यह मुंह हारमोनियम से कम कार्य नहीं करता । एक विलायती वाजा आता है जिस का वटन दवाने से अपने अनुकूल भाषा निकाली जा सकती है उसी तरह अपना जैसा भाव होगा वैसी वात मुंह से निकलेगी । भावों का वोली में केवल निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है । सव का मूल भाव का अच्छा बनाना है । भाव अच्छा नहीं वनाया तो वोली अच्छी कैसे निकलेगी । मन की कषाय हटाने पर प्रिय वचन मुंह से निकलेगा व्यवहार में भी अच्छा वचन वोलने से दूसरों के द्वारा आदर पाता है। लोकमें परिक्षा भी वचनों से होती है । आध्यात्म में भाव अच्छा बनाया जावे जिस से आत्मोन्नति के पथ पर सुलभता से पंहुच जाओगे । निर्मल भाव बनाने के लिए किसी से कुछ ऋण नहीं लेना पड़ता किन्तु वह आत्मा की एक आवाज होती है जो दूसरों के लिए अपनी मुहर (शील) होती है । इस मुहर का प्रयोग करना

वचन बोलने वाले पर निर्भर है। वह चाहे श्रेष्ठ मुहर स्थापित कर लेवे अपनी या भद्दी, प्रिय वचन जनों के लिए अमृत का कार्य देते जब कि कटु वचन जहर का कार्य करते हैं। जहर तो एक ही समय प्राण हरता है। किन्तु खोटा वचन हमेशा खटकता रहता है। भव भव में वैर बांध लेने का कारण भी कटु वचन हो जाता है।

जो यह देह नामकर्म की प्रकृति से निर्मित हुआ है वह जीवनहीं है उसी तरह शरीर, संस्थान, संहनन इत्यादि भी पुद्गलमय नाम प्रकृति से रचे गयेहैं। इन से जीवन नही है। जब जीव एक इस शरीर से मुक्त होता है तो जो तैजस कार्माण सूक्ष्म शरीर है वह अन्य शरीरके ग्रहण का कारण बनता है। अपने से अतिरिक्त अन्य भावो का रहना दुख व क्लेश है। एक भ्रम ही क्लेश है जैसे कहा करते है, 'तिल की ओट पहाड़'। एक तिल की ओट में पहाड़ न दिखे यह कैसे सभव है। अगर चक्षु के गोलक में रहने वाले रत्न के सामने तिल लगा दिया जाय तो पहाड़ नही दिखेगा अज्ञान से भी यही दशा हो रही है। यह मेरा यह तेरा इन तरह नाना प्रकार से नाना बातोंके जाल बनाता है। किन्तु एक जो अपने से प्रयोजन है उसे स्मरण नहीं करता। अपनी २ कषायों के अनुसार जीव परिणम रहे है। मेरा कौन सुधार करेगा इसे भूल चुका। इस का कोई साथी नहीं हैं। फिर क्यों पर पदार्थो की ओर आकर्षित होकर भूल रहा है मेरे लिए ससार से चाहिए क्या ? जिस से मेरा उपयोग मुझ में रमे यह जान कर उसी का आश्रय लेवे। फिर अन्य कोई मेरे बारे में कुछ भी धारणा बनावे तो मेरी क्या हानि है। अपने आप का बल करके आत्मा का आश्रय मिलेगा, कर्मो को झड़ना ही पड़ेगा मैं कर्मो की निर्जरा करूंगा मुक्ति के समीप पहुंचूंगा जिस का यह निश्चय हो गया है वह उस तरह ज्ञान के दृढ़ कार्य भी करेगा। जो चक्षुओं सेप्रतीत हो रहाहै। वहमैं नहींहूँ इन इन्द्रियो का ज्ञान इन्हीं इन्द्रियों को नहीं हो पाता। आंख अपनीही अपनीआंखको नहीदेख पाती यहीबात बाकीकी इन्द्रियोंमें है।अन्यको जानती रहेगी मामूली बातोंमें भी बहिर्मुखता का पाठ खेला जा रहा है। अतः बाहरी पदार्थो में बुद्धि शीघ्र दौड़ जातिहै। इस समय अपन को सब ओर से मोड़ कर चित्त एकाग्र कर अपने पर

दृष्टि जमाई जावे तो भान होगा मैं क्या हूँ। वह मैं हूं जो परमात्मा है। इस प्रतीति से शांति आवेगी जब तक परपदार्थों से रुचि है, लगन है तब तक भगवानका उपदेश है कि संसार से नहीं छूट सकोगे। आत्म भगवानका आलम्बन मुक्ति का मार्ग है। इस तरह के भी मुनिराज हुए हैं जिन्होंने तुपमात्र भिन्न मान कर अपने भेद ज्ञानके आलम्बन से केवल ज्ञानी बन गये। यह अमूल्य निधि अपने आप मिल गई किन्तु अपनी ओर झुकाव होना चाहिए। धन वैभव वृद्धि से क्लेश ही मिलेगा। कदाचित आयु पूर्ण होने पर देव होगये तो वहां भी पर पदार्थों में रुलना होगा। देवांगना मिली, अनेकभोगोपभोग सामग्री मिली तथा अपने से वैभव युक्त देवों को देख कर ईर्षा की अग्नि में जलता रहा वहां से भी कूंच कर जाना होगा। लेकिन एक निज ज्ञान स्वरूपको नहीं भूले। एक निज का आनन्द रहा तो सर्व श्रेष्ठ है। इस को छोड़ करोड़ों की संपत्ति भी मिली तो उस वैभव से शान्ति तो आ नहीं सकती। किन्तु निज स्वरुप पर दृष्टि रहे तो दरिद्र होते हुए भी श्रेष्ट है। सब संसारी जीव शरीर से बंधे हुए हैं किन्तु अनुभव शरीर रुप नहीं होवे उस में राग न रहे। ऐसा हे आत्मन्! भगवान सिद्ध के समान बड़ी प्रभुता वाला, बड़ा साम्राज्य वाला अपने को अन्य २ रूप अनुभव कर लेने से बन्धन में पडा है: भगवानका नाम नही छूटे। मरण समय में भी 'जिन' ऐसे दो अक्षरो का स्मरण रहे। भगवान कीउपासना में जिन के स्वरुप का और निज के स्वरुप का स्मरण रहे यह ज्ञानी जीव चाहता है। देह जीव नहीं है, देहपौद्गलिक है। जिस के द्वारा यह रचा जाता है वह उसी रुप होता है। सोने या लोहे से बना पदार्थ उसी रुप होता नाम प्रकृतियों से निर्मित यह देह उसी रुप जड़ होता। चाँदी की तलवार को सोने रुप देखते हैं क्या? यह सब नाम प्रकृति से रचा गया है।

यह सब वर्णों का समूह पुद्गलों का एक मंडन है। यह पुद्गल है सो पुद्गल ही रहेगा। शरीर रस रूप गंध वर्ण से युक्त है वह आत्मा नहीं है। आत्मा पुद्गल से नहीं रचा है। आत्मा आत्मा है। शरीर माने बदमाश। यह अनेक कल्पना जालों को बिछा दुखी होता है। मोही जीव अपने अविस्थित शरीर से भारी मोह करता है किन्तु निकट समय में छोड़ कर जाना होगा और

शरीर यहीं जला दिया जायगा। आत्मा को शरीर से जुदा समझते रहें यहीतो एक मित्र है। दुनियावी मित्र तो ऐसे है कि जिसको कषाय से मेल खा गया सो मित्र हो गये।

एक लड़के का सिनेमा देखने का भाव हुआ' पडोसी के लड़के को भी साथ लेकर दोनों हाथ मिला कर बातें करते हुए पहुंचते हैं, यहां समान कषाय भाव था तो मित्र हो गये किसी की इच्छा के विपरीत चले तो शत्रु ही होगा तो मित्रता वह है जिस की कषाय से कषाय मिल जाय। धर्म में भी दूसरोंकी देखा देखी रहतीहै, मैं भी उसके समान धर्म करु'—यहां भी कषाय समान मिलाई गई। मेरा तो कोई मित्र है नहीं यहां तो परिणतियों ने मित्र शत्रु बना डाला। अपने से विपरीत प्रतीत होने या कल्पना में शत्रु बन गया। शिकार खेलने वाले जंगल में जावे और वहां साधु मिल जायतो वहां शिकार न मिलने से साधु को बुरी दृष्टि से देखते और शत्रु मानते हैं। लेकिन वहां दुश्मन कोई नहीं है। मेरे भाव के विपरीत मिला तो उसे शत्रु मान लिया यथार्थ में शत्रु है नहीं, कषाय केविकल्प ने मान लिया है। इसी तरह बन्धु भी वास्तव में कोई नहीं। एक मनुष्य धनी आदमी के यहाँ पंगत में गया। वह पुराने, मैले फटे कपड़े पहने था। वहाँ उसे भोजन करने को भी किसी ने नहीं कहा। क्यों कि वहाँ तो अच्छे २ कपड़े पहने-सूट, कोट, टोप, घडी आदि से सुसज्जित व्यक्ति भोजन कर रहे थे यह देख वह घर वापिस चला गया तथा वह घर से बढ़िया पैन्ट, कमीज, टोप पहन कर आगया। उसे देख कर बोले आइये भोजन कीजिए, पत्तल परोस कर भोजन परोसा। तब वह व्यक्ति लड्डू उठा कर टोप से कहे ले टोप खाले, हे कमीज ले तूं यह बर्फी खाले, पेन्ट ले तू भी खाले। यह देख दूसरे मनुष्यों ने कहा, भाई यह क्या कर रहेहो। वह व्यक्ति कहता है आप लोगों ने जिस को आदर सत्कार से बुलाया उसे खिला रहा हूँ। आप ने तो कपड़ों का आदर किया है। मुझे तो आप ने नहीं पूछा था मैं तो कल भी यहाँ से गुजरा था आप लोगों ने बात भी नहीं की। यहाँ भी भैया ऐसा हाल है। चैतन्य मात्र जीव की खबर कौन लेता है। सब पूँछ पांछ इन देहो की हो रही है। हाँ इतनी बात है कि जीव के रहते हुए देहों की हो रही

सो॰ यहाँ भी तो मनुष्यके होते हुये कपड़ोंकी पूंछ हो रही थी। खाली कपड़ों को कौन ऐसा कहता। मैं अपने पर क्यों प्रभाव रहने दूं यह सब कर्मकृत ठाठ है। मैं अपने आप को न इस में फंसाऊ यही निश्चय से मित्र है। जिस जान कारी में चल रहा हूँ वह भी मेरा मित्र नही है, न मैं हूं। मैं एक अनादि अनन्त चेतना तत्त्व हूं। अपने को उपयोग में लगावे तो सब झगड़े मिट जावेंगे यदि संग न भी छोड़ संके तो वास्तविकता तो जानता रहे। वहाँ भी अपने को खेद के साथ कोई बोले तो विषाद होता है तो वह आगे भी बढ़ता है मात्र शुष्क ज्ञान से कुछ नहीं होगा। अन्य मतावलम्बियों ने कहा ईश्वर ने ऐसा किया है। अपने यहां कहते चारित्रमोहनीय का फल है। उतने ही घर में रहना, मन्दिरमें आना, कुटुम्बियों से स्नेह करना, बोलना आदि आत्मा का गुण नहीं है। भीतर के परिणामों को तो स्वयम् संभाल नहीं सकता दूसरों का बाहर में क्या हित करेगा।

एकाकी आत्मा की ओर कितने झुक रहे हैं इस का चिन्ह यही है, जितने२ आत्म तत्त्व में आते जाँयगे उतने २ बाहरी तत्त्वों से उपेक्षा करते जायंगे। जिस में चिन्ता नहीं उसका एक बार अनुभव हो पाये तथा यह अमृत का स्वाद यथा विधि बैठ जावे तब क्यों सदैव पर पदार्थों की परिणमन की सोचा करूंगा, या उन से मेरा हित होता है इसे असत्यमान कर पुनः २ क्यो फंसूगा एवं रुलूंगा भैया कागजी सीख पर ही तो कोई गुण आ नहीं जायगा। अभी देखो हिन्दुस्तान, पाकिस्तान बना। उस समय बेचारे पाकिस्तानी विदेशीयों के सिखाये बोल रहे पाकिस्तानियों को सीख सिखाने पर भी वह कब तक अपनी बात निभावेंगे। जब तक सिखाने वालो का पूरा कब्जा नहीं होता तब तक कुछ पूछ भी रहे है। उसी तरह हम सिखाये पूत बन रहे हैं। स्तुति, पूजन भक्ति दान स्वाध्याय, सामायिक सब सिखाये पूत की बातें हैं। जो दूसरे करते आये उसे ही हम करते हैं। लेकिन हमारे अनुभव की लाभ की बात हो तो उसे क्यों नहीं समझेंगे। आत्मीय आनन्द अनुभव में आजावे तो वह भूलेगा नहीं, वह तो अपने अनुकूल ही कार्य करेगा। यह उद्यम करना जीवन में उस आनन्द की लक है जो सिद्ध परमात्मा को मिलता है। इस आनन्द के लिए उसे सब से

चित्त हटाना होगा। वो आनन्द पूजन में भी नहीं मिलेगा जो मर्म की चीज भीतर उपयोग में मिलेगी। इस लिए बाह्य पदार्थों का समागम रूचि में न बढ़ावें। सब कुछ किया और प्रवृत्ति विपरीत (उल्टी) ही रखी तो कैसे आत्मा का कार्य सिद्ध होगा। २४ घंटे में १५ मिनट भी तो ऐसी चेष्टा करे जो सांसारिक कार्यों से ऊब कर अपने मन की स्थिति को एकाग्र करे। ऊबे हुए तो सभी हैं किन्तु ऊब चुकने से पर पदार्थ को चित में नहीं लावे उन से कोई सुख नहीं है और न आज तक मिला है यह दृढ प्रतीति करे, झूठे विकल्प जालों से उन में फस रहा हूं यह अनुभव पूर्णतया हो जावे तो उस ज्योति का अनुभव होगा जोज्योति कभी नहीं जगी। यह बात बन जावे तो सब कुछ बन जावे, यही सब का सार है। जीवन का मधुर स्वाद जो कभी नहीं मिला तृष्णा अग्नि कभी शांत नहीं हुई। वह तृष्णा यहां आकर विराम (शान्ति) पावेगी। शम्।

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुम बादरा य जे चवे।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्तो ॥६७॥

पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म बादर जीव इस प्रकार देह की जीव सज्ञा ग्रथों में कही है वह सब व्यवहार से है ऐसा जिनेन्द्रदेव के शासन में कहा गया है।

जो तुम्हें यह वर्णादिक दिख रहे हैं, वह जीव से न्यारे हैं। चेतना युक्त जीव है। वह तो शरीर से प्रकट भिन्न है किन्तु अनादि से सम्बन्ध लगा होने से पर में आपा बुद्धि शीघ्र रुक जाती है। जब किसी व्यक्ति को सिर में दर्द या और कोई असाध्य रोग हो जाय तो अनेक इलाजो से तथा और सब भाई स्त्री पुत्रादि की सहानुभूति से भी अच्छा नहीं होता, तब यकायक विचार पैदा होता है 'कोई भी पदार्थ किसी का सहायक नहीं'। मेरी प्रत्येक जन्म संतति की भूल मुझे परेशान कर रही है। तब यह तथ्य भिदता है कि संसार असार है। आज तक अपने को आनन्दस्वरुप अनुभव नहीं किया। मुझे यहाँ करने को क्या बाकी रह गया जिससे पुनः पुनः इन्हीं उलझनों में फंसता रहता हूँ। यह उलझनें मुझे निकालती तो हैं नहीं। सोचता यह है, इस कार्य को, इस कार्य

को करके अब अन्तिम गुरु की सांस पाऊंगा। किन्तु वह सुख की सांस तो दूर रही, पहले से ज्यादे जाले और तैयार हो जाते हैं, जहा यह धुन सवार होती है। अब किस जाल में पहले जाऊं किसमें पहले जाऊं, इसीकी धुन में इस विनाशीक शरीर को नष्ट होने का साज सामान ही मौजूद मिलता है अबतो आत्मिक कल्याण से भी वंचित हो गये।

इसी तरह प्रत्येक प्राणी का पदार्थ का परिणमन तो होना ही रहेगा। मैं या तुम नहीं थे तब भी दुनियां के कार्य चालू थे और आगे नहीं भी रहेंगे तो भी चालू रहेंगे। लेकिन हम यह सोचें मेरे द्वारा यह कार्य हो रहा है, या होगा सो भ्रम है। कार्य तो अपनी आत्मा का करना है। जो कि ज्ञानमय है। पर में बुद्धि तो व्यवहार से है। एक बटलोई में पानी भरा होने से उसे अग्नि पर चढ़ा देते हैं, तो बटलोई गर्म हुई उसीके सम्बन्ध से पानी गरम हो जाता है। यहां क्या आग बटलोई में चली गई या पानी में। अज्ञानी यही समझेगा आग पहुंच गई या आग की पर्याय पहुंच गई? वहां तो केवल निमित्त पाकर बटलोई गर्म हुई और उसी अग्नि के निमित्त से पानी गर्म हो गया। कुकर में भोजन पकाते हैं। पानी नीचे रहता है उसके निमित्त से ऊपर के सभी पात्र गर्म होकर भोजन तैयार हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ निमित्त पाकर ऐसा ही करता है। लाइट जलने से बिजली का उजाला होता है। यहां उजाला क्या यह बिजली का है? नहीं। वहां बिजली का निमित्त पाकर अन्य स्कन्ध भी प्रकाशरुप हो गये। इस देह पर जो उजाला है वह देह का है। पुस्तक पर का उजाला पुस्तक का है। तथा अन्य पदार्थों पर का उजाला उन्हीं का है। केवल निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसी तरह जीव, जीव ही है। शरीर, शरीर ही है। कहते हैं घी का घड़ा लाओ। किन्तु घड़ा मिट्टी का है। घी के निमित से ऐसा व्यवहार होता है।

एक जाट था' वह पंचों में बैठा गप्पें मार रहा था। उससे किसी ने सवाल किया '३० और ३० कितने होते हैं' जाट बोला ५० होते हैं। दूसरों से भी पूछा ६० बताये, फिर भी जाट बोला नहीं ३०+३०=५० ही होते हैं। औरों से भी फैसला

करा लो इस बात का, अगर ५० नहीं होंगे तो मेरी ४ भैंसे लगती हैं, उसमें हरएक भैंसमें ८सेर, १०सेर तक दूध निकलता वह पंचों को दे देंगे। घर स्त्री के पास आया। तो स्त्री बोली 'तुमने अच्छा किया जो चारों भैंस पचों को देने को कह दिया'। जाट कहता है 'अच्छी पगली है, जब हम अपने मुंह से ५० ही कहेंगे तो कोई हमारी भैंसे कैसे ले लेगा, ६० हम मुंह से कहेंगे ही नहीं, अन्यथा जो लठ रक्खा है। इसी तरह हम संसारी जीवों की दशा हो रही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, नेमिचन्द्राचार्य आदि कहते हैं 'शरीर जीव नहीं है, जीव चैतन्यमय है आदि' तो कहते रहें। हमें तो दृष्टि में नहीं भिदता। कार्तिकेय आठ वर्ष की अवस्था में मुनि हो गये थे, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य भी १०, ११ वर्ष की अवस्थामें मुनि हो गये थे तो यह बात सुन कर मोहियों को ऐसा लगता है कि इनके दिमाग में फ़ितूर तो नहीं हो गया था। दानी लोग हजारों लाखों रुपये का दान करते हैं वो कंजूसों को सुन कर ही दुख होता है। असल में जो खुद रंजमें है उसे खुशदिल कोई नहीं दिखता है। अगर अपना दिल खुश होवे तो भगवान की मूर्ति देख कर कहते हैं, भगवान हंस रहे हैं। कभी २ मनुष्य कहते हैं भगवान का रुप बदलता रहता है, जो जैसे भावों से भगवान को देखता है उसको वैसे ही भगवान दिखते हैं। झूठ बोलने वालों को दुनियाँ झूठी ही मालूम पड़ती है। मायाचारी के लिए दुनिया ही मायवी मालूम पड़ती है। धर्मात्मा पुरुष सब को धर्मात्मा ही मानता है। वह प्रत्येक को दया दृष्टि से देखेगा यह भी अपना उद्धार करें यह बात उसके मनमें समायी रहती है। इसके विपरीत पापी लोग सबको पापी मानते हैं। जिसकी जैसी वृति है वह सबको वैसा ही देखता है। गुण देखने की आदत जब तक नहीं है तब तक उसकी दृष्टि में गुण दुर्गुण ही रहेंगे। दोषी न हो तो दोष देखने की आदत न रहे।

एक मनुष्य जंगल में जा रहा था। वहाँ पर उसे एक सिंह मिल गया, प्राण बचाने के लिए पास के ही एक पेड़ पर चढ़ने लगा। ऊपर गया तो देखता है वृक्षपर रीछ बैठा है रीछ कहता है 'तुम घबड़ायो मत, तुझे नहीं

जाऊंगा, शरणमें आये हुए की रक्षा ही करूंगा। सिंह नीचे खड़ा था। रीछ नींद में आकर सोने लगा। इस समय सिंह कहता है कि हे मनुष्य इस समय रीछ सो रहा है इसे तुम धक्का देकर गिरादो। तुम्हें मालूम नहीं, जब तक हम यहां हैं तब तक रीछ भला बना है। जब हम चले जावेंगे तब क्या रीछ तुझे खानेसे छोड़ देगा। तब मनुष्य सोचता है नीचे जाता हूँ तो सिंह है, ऊपर रीछ बैठा है जो मुझे खा जायगा, सिंह का कहना ठीक है इसलिए यह सोच रीछ में धक्का दिया, जिससे वह गिर जावे। इतने में रीछ की नींद खुली। वह रीछ संभल जाता है कुछ समय बाद मनुष्यको नींद आने लगती है तो सिंह नीचे से कहता है। ओ रीछ इस मनुष्य को सीधा मत समझ। यह बड़ा धोखेबाज जानवर है। वह तुझे अभी हल डोल रहा था। अब तू इसे धक्का देकर गिरा दे, इसे दोनों खावेंगे। उत्तरमें रीछ कहता है—मनुष्य मुझे भले ही गिरा देता किन्तु इस शरणमें आये हुए को मैं नहीं गिराऊंगा। जिसके मनमें जैसा भाव था वैसा ही देखता है। मनुष्यके मनमें धोखा व सन्देह था इसलिए उसने वैसा आचरण किया, किन्तु रीछके मनमें नहीं था इसलिए उसकी रक्षा की। दोष देखने वाला स्वयं दोषी है। गुणी दूसरोंको गुणयुक्त ही देखता है, तथा हर्ष मनाता है। जैसी योग्यता होती है वैसी परिणति होती है। पर पर ही है और निज तो निज ही है। मैं भाव बनानेके सिवाय अन्य कर क्या सकता हूं। इसलिए जो वस्तु जैसी है, उसके बारेमें उसी तरहके भाव बनावें तो मनुष्यजन्म सफल है।

भोजन करना, नींद लेना, भय करना और मैथुन करना काम तो पशुओं में भी है, मनुष्य भी उन्हीं के आधीन रहा तो उसने क्या किया। सिर्फ पूंछ सींग रहित पशु ही रहा। अगर कुछ ममत्व कम करके धर्मके प्रति रुचि नहीं जागती तो वह ममत्व घटाना क्या रहा? धर्म मिल जाय तो हम सनाथ हैं। नहीं तो आगे हमारी रक्षा कौन करेगा। यह निर्मलता जब तक नहीं आ सकती, जब तक भेदविज्ञानकी किरणे न फैल जावें। भेदविज्ञानके द्वारा ही बाहरी पदार्थोंसे मोह हट जावेगा। धर्म तो एक मिश्रीकी डली है. इसे किसी भी अवस्थामें किसी ओरसे खा लो हमेशा सुख देगा। शादी होनेपर युवक

सुसराल वाला हो जाता है, तो दूसरे मनुष्य कहते हैं– भैया तुम्हारी तो चनों की खेती है। अर्थात् चना-पैदा होते ही उसकी भाजी खाने योग्य हो जाती है पत्ते खाते, डालें खाते हैं। बादमें बूंट नये दाने)व फिर चुगते हैं, होरा खाते हैं और बादमें काटनेपर चनेकी दाल बनती, बेसन बनता, अनेक पकवान्न बनते हैं। यह सब पौष्टिक भी होता है। उसी तरह ससुरालसे हर जगह आमदनी २ हैं। शादीमें मिला, दुसरते (भ त या चालना) की विदामें मिलेगा, लड़कीको धन मिलेगा, बच्चा हुआ तो मिलना, पर्व त्योहार आये तो मिलना, बच्चे शादी लायक होगें तो मामा सहायता देगा। हर तरह से लाभ है—उसी तरह धर्म तो एसी खेती है जिसमें सुख ही सुख है। धर्मीको मनुष्य गति मिली उसमें सुख, देवगति मिली तो सुख, भोगभूमिमें जाते हुए तो सुख चरनशरीरी हुए तो सुख अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है ही . धनी, निर्धन सभी ज्ञान बिना दुःखी हैं। ज्ञान और है तो आनन्द ही आनन्द है।

बादर सूक्ष्म शरीर भी जीव नहीं है। राग द्वेष भी जीव नहीं। राग द्वेषसे क्रोध, मान, माया लोभ पैदा होते हैं जीवकी विकृत पर्याय पुद्गल और जीवके मिलनेसे बनती है। तीनो जगह (बादर, सूक्ष्म शरीर, और राग द्वेषमें। जीव नहीं है उसके लिए ६८ वीं गाथा है। जो ये गुणस्थान मोहनीय कर्मके उदयस्वरूप है जिन्हें कि नित्य अचेतन कहा गया वे जीवस्वरूप कैसे हो सकते है। ये गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं।

**मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।**
**ते कहहवंति जीवा जे णिच्चमचदेणा उत्ता॥६८॥**

जो ये गुणस्थान मोहनीय कर्मके उदयस्वरुप हैं जिन्हें कि नित्य अचेतन कहा गया है वे जीव कैसे हो सकते हैं। जो मोहनीय कर्मके उदयस्वरूप हैं, मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले हैं वह जीव नहीं हैं। इसमें राग द्वेष सब आ गये। तो वह जीवके नहीं हैं। वे कर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं। क्योंकि कर्म अचेतन हैं तब वह भी जीवके नहीं हैं। जानकारी उल्टी जगह लग रही हो तो उसे अचेतन कह देते हैं। चारित्रादि गुण तो अचेतक ही हैं।

जो 'भाव चेतनको जाननेमें नहीं लगते उनको छोड़कर भाव भी अचेतन हैं। सर्राफका भाव शुद्ध सोना खरीदने का है, । अगर वह ९० या ९५ टंच वालेका सोना मानले तबतो खूब दुकान चलेगी । अगर ९० टंची को लेगा तो हिसाबसे दाम देगा या दो आना मैलमिश्रित १४ आना शुद्ध भी लेवे तो उसी भावके दाम देगा, क्योंकि उसकी रुचि शुद्ध सोना लेनेकी है । इसी तरह जिस ज्ञानी जीव को शुद्ध चेतनामें रुचि है, वह देखता है कि राग द्वेष मोह अचेतन हैं, इसलिए यह मेरे द्वारा ग्राह्य नहीं है । इन्होंने आज तक मेरा काफी अहित किया । अब इन्हें अपने पास नहीं फटकने दूंगा । तेरहवां सयोग केवली गुणस्थान है, उसमें केवलज्ञान व शुद्धताकी मात्र दृष्टि नहीं है । तथा चौदहवां गुणस्थान भी केवलीकी दृष्टिसे नहीं बना । अन्यथा सिद्धोंको अयोगी गुणस्थान कहते । शुद्ध तत्त्वमें जो रम रहा है व साथ ही अघातिया कर्मका सयोग है उसे १४ वा गुणस्थान कहा है इसी तरह जो शुद्ध हो तो गया किन्तु योग व अघातिया कर्मका सम्बन्ध है वह १३ वां है। कर्म प्रकृतिका विपाक होनेसे अचेतन मानेगये थे सब । उदय साथमे चल रहे है । इसीमे इन सबको अचेतन कहा है । अरहंत-देवकी भक्ति जब करते है, उसमें इतना ही जो कहते है हे अरहत भगवान ! आप समोसवशरण लक्ष्मीसे शोभायमान हो, देवाधिदेव हो, संसारी जीवोंको भव समुद्रसे निकालनेके लिए जहाजके समान हो, आपका परमौदारिक शरीर है । ऐसा भी कहते कि आप नाभि राजाके पुत्र हो तथा भरत, बाहुवलि के पिता हो आदि । यह सब अचेतनका गुणगान है । प्रभुभक्ति आत्मस्वभाव की उपासनापूर्वक होती है तो वहां यह मुख्य भाव है कि हे भगवान ! आप शुद्ध चेतन स्वरूप हो । जितना आदर आत्मस्वरूप मे होगा उतनी ही भगवान की उपासना यथार्थरूपमे करोगे । स्वयं अपने बारेमें कितनी २ बातें सोचते रहते हैं यह सब विकाररूप हैं । उनसे निजका कुछ भला नहीं होता है । दृष्टि शुद्ध चैतन्यपर जाना चाहिए । परका भान भी न होवे, इतना अपने को शुद्ध देखे, निर्विकार देखे कि मुझमें किसी का प्रवेश ही नही है । इतना शुद्ध इतना न्यारा अनुभव करे । बाजारमें जिस तरह लिखा रहता है 'यहां शुद्ध दूध मिलता है' उसका मतलब यह न समझे कि यहां त्यागियोंके लिये शुद्ध दूध नहाकर निकाला जाता है , या साफ मंजे बर्तनोंमें कुलीन आदमियों द्वारा ही स्पर्श किया जाता है । सो बात नहीं है । मात्र केवल इतना है कि इस दूधमें पानीकी मिलावट नहीं है और मक्खन भी नहीं निकाला गया है । जिसे

मखनियां या सपरेटा कहते हैं। इसीप्रकार शुद्ध आत्मा क्या! जहाँ परकी मिलावट नहीं है और शुद्ध चैतन्य निकाला नहीं है। न यहां राग है, न द्वेष है और न मोह है। मैं यहां बन्धनमे क्यों पड़ा, अपने शुद्ध भावोंमें पर की मिलावट नहीं है। खुदका सार भी नहीं निकाला है। जो ज्ञानका सम्बन्ध है उस सार को भी नहीं निकाला है। मुझे पर पदार्थसे सुख मिलेगा यह विश्वास नही है। मैं ज्ञानानन्द.रि परिपूर्ण हूँ। वह तो मेरा स्वभाव ही है। जैसे अग्निकी उष्णता, अग्निमें अन्यत्र से नही आती उसी तरह आत्मामें सुख भी अन्यत्र से नहीं आता है। दूसरोंसे सुखकी आशा मत रखो तब वह सुख परणामेगा ही। जैसे करोड़पति सेठके गुजर जानेसे लड़का नाबालिग होवे तो सरकार उसकी सब सपत्ति को कोर्ट कर लेती है। और प्रतिमाह उसके खर्चके लिए पांच सौ रूपया भेज देती हैं। तो वह समझता है सरकार मुझपर बड़ी अनुकम्पा कर रही है जो ५०० रु माहवार भेज देती है। लेकिन उसे यह मालूम नहीं कि हमारी करोडोंकी जायदाद सरकार अपने विभागोंमें लगाए हुए है उसके लाभसे वंचित हूँ। यह सब नाबालिग होनेसे सोचता है। किन्तु जब बालिग हो जाता है तो कहता है यह तो इतनी मेरी संपत्ति है। और, कोर्टमें प्रार्थनापत्र भेज कर वह अपनी जायदाद वापिस ले लेता है और उसका इच्छानुकूल उपयोग करता है।

कर्मोंने नाबालिग देखकर मिथ्यादृष्टि होनेसे आनन्दको कोर्ट कर लिया है। एवजमें पुण्यफलरूपमें सुख मिलने लगा। कर्म सरकारने सुख दियातो बड़ा अच्छा मानते हैं। कहते है भाग्य जग गये - धन मिल गया, नौकरी मिल गई, स्त्री बच्चेके संयोगपर ही मोही जीव खुश होने लगते हैं। यह नाबालिग इन्द्रियसुखोंके गुण गाता रहता है। जब बालिग हो जाय तो सम्यग्दृष्टि कर्मके विरुद्ध केश दायर करता है और कहता है जो तेरे उदय से मिला है वह मुझे नहीं चाहिए, उसे वापिस ले जाओ। अपनी पैरवीमें जीत जाता है तब स्वात्मानन्दका धनी बन जाता है। यही उपाय तो किये हैं ज्ञानियों ने, सो अरहन्त सिद्ध बन गये हैं। उतना ही धन अपने पास है। फिर कर्मोंके काटनेमें नाबालिग क्यों बन रहे हो।

यह प्रकरण चल रहा – कर्मके उदयसे होने वाले जो भाव हैं वे अचेतन हैं क्योंकि अचेतन कर्मके उदयसे होते हैं। चेतनहितदृष्टिमें एक ज्ञानोपयोगको माना है यह ज्ञान अचेतनमें फंस कर अचेत होता है। चेतनमें रह कर चेतता ( जाग्रत ) रहता है। रागादि कर्मपूर्वक हैं। जो जिस पूर्वक हो वह वह ही हो जाता है। इसी प्रकारसे पुद्गलके विपाकसे पुद्गल ही होगा। कर्म भी एकान्त दृष्टिसे शुद्ध दीखता है। कर्मोंने संसारी जीवोंको जकड़ रखा है यह व्यवहार है और वे जकड़नेसे भी छूटना नहीं चाहते हैं। रागादि भाव जिस कर्मको निमित्त पाकर हुए हैं वह उसके हैं। ऐसे जीवको शुद्ध स्वभावमें देखनेका एक यह भी उपाय है कि निमित्तकी ओरसे होने वालेको निमित्तका ही जान कर उससे अपनेको पृथक २ देखो। पौद्गलिक जो कर्म प्रकृतियां है वह अचेतन है, रागादिकका कारण है। गुणस्थानोंको अचेतन कह दिया है। चेतनास्वरूपकी दृष्टिसे च्युत हो कर जो भी भाव हैं उन सबको अचेतन कहा है। क्यों कहा है ! । चेतनस्वरूपसे जो भिन्न है उसे आत्मद्रव्य माने वह अचेतन है। इससे अचेतन राग ही नहीं हैं, द्वेष, मोह कर्म, शरीरमें वर्ग, वर्गणायें, स्कन्ध यह सब अचेतन हैं। आत्मामें होने वाले उदयके स्थान, मार्गणारूपसे जो देखे जाते वे संयमके स्थान यह सब पुद्गल पूर्वक होते है इससे अचेतन हैं।

यह भी मेरे नहीं हैं, इन सबसे मैं भिन्न हूँ। यह सब गन्दगी है, विडम्बना है। एक बड़ा सारभूत तत्त्व ज्ञान है: यह मनमें जम जाय कि रागादिक पुद्गलपूर्वक हैं इस लिए यह सब उसके नाटक हैं। मैं चेतनस्वरूप आत्मा हूँ यह अनुभव हो जाय तो इन बातोंसे पिण्ड छूट जाय कि मेरी बात गिर गई मेरी निन्दा हो गई, मेरी पोजीशन गिर गई, हमारा अपमान एवं सम्मान हो गया। हमारी जानकारी जो चल रही है वह भी अचेतन है। स्वभावके अतिरिक्त सब अचेतन है। स्वभावकी जो दृष्टि करे सो चेतना है। जीव कितनी जगह में भ्रमण कर रहा। जो जो जानकारी अन्य विद्याओंमें लग रही वह भी मेरी नहीं तब क्या रहा ? अन्य न मेरी कोई वस्तु है अन्य न मेरा तत्त्व

है। घर वैभव कुटुम्ब मेरा नहीं पुद्गल ही सर्वत्र नाचता है, यह दृष्टि कैसी आई जब जीवको अत्यन्त शुद्ध देखा। अन्य २ जितनी बातें पैदा हुई वह सब पौद्गलिक हैं। अशुद्धनिश्चयसे रागादिक रागादिमय आत्मा के हैं, शुद्ध निश्चयसे आत्माके नहीं हैं। शुद्ध जीवको शुद्ध ही निहारना। दर्पण के सामने लाल खिलोना रख लेनेसे दर्पण ही लाल प्रतिभासित होने लगता है। कहें, वह प्रतिबिम्ब किसका है? दर्पणका कहनेसे अन्यका नहीं रहा तो फिर दर्पणमें सदा रहना चाहिये। दर्पण को शुद्ध ही देखना चाहिए तो कहेंगे, वह छाया खिलोना की है। इसी तरह राग विकार आदि पुद्गलके ही हैं। रागादिक पर हैं जीव को पूर्ण शुद्ध ही देख रहे हैं यहां।

जो अनादि है, अचल है, अनन्त है, ज्ञायकस्वरूप है वह मैं हूं। पुद्गल और जीव मिलते हुए भी एक स्वभावरूप हो जाय सो बात नहीं है। यह स्वसंवेद्य है। जीव अपने द्वारा ही जानने योग्य है। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्णसे कोशिश करे तो वहां व्यापार नहीं चलता है। वह स्वयं स्वभाव से जानता है। जीभ जीभका स्वाद नहीं जानती। हाथ स्वंय हाथकी गर्मीको नहीं जानता है जब बाहर भी यही व्यवस्था हैं तो बतावो आत्मा इन्द्रियोंके द्वारा जानने में नहीं आता, इसमें क्या संदेह हैं। सब वृत्तियां समाप्त हो जावें कुछ भी न रहे तो आत्मस्वभाव समझमें आजाय।

जो वस्तु अच्छी लगी उसको मित्र मान लिया तथा जो अच्छी न लगी उसे शत्रु मान लिया तो प्रतीत यह होना चाहिए विषय कषाय हमारे शत्रु हैं तुम्हे जो अच्छा लगे उसकी बलि दे दो। लेकिन हो रहा सब विपरीत है। जैसे कि कुम्हार कुम्हारिनीसे न जीते सो गधाके कान मड़ोरे। कुम्हार था वह स्त्रीसे नहीं जीत पाया तो गधी बधी थी पासमें, सो उसको मार दिया। देखा जाता है बहुत सी माताओंको गुस्सा आता है तो कारण तो कुछ और होता है किन्तु बच्चोंको पीट देती हैं। यथार्थमें रागकी बलि करना चाहिये किन्तु विषय कषायोंको नहीं छोड़ सके सो पशुओंको बलि करने लग गये। विषय कषायोंको मारे तो बलि है। जिससे आत्मस्वभाव समझमें आजावे।

महादेव दि० जैन मुनि ही तो थे। ११ अग ६ पूर्वके पाठी थे। उस समय उनका बड़ा प्रभाव था। सभी आकर तत्त्वोपदेश सुनतेथे, आत्मज्ञान प्राप्त करते थे। जब उन्हे दशवाँ अंग सिद्ध होनेको आया तो अनेकों देवता आकर उन से विनय करके बोले आप जो कहो मो करें, उनके चरणोंमें सभी कुछ समर्पण करनेको तत्पर हो गये। बस वहां वे स्वसे च्युत हो गये तो इतने स्नेहमें आगये कि पर्वत राजाकी पुत्री पार्वतीसे विवाह कर लिया। देवता लोग एवं देवियां उनकी सेवामें उपस्थित हुई थी इससे रागसे द्रवीभूत होकर रागमें गये। स्वभाव अचल है। सुवर्णमें अन्य कुछ भी पदार्थ मिला हो तो भी सुवर्ण अपने स्वभावको नहीं छोड़ता। जमीनपर लोहेकी कीलोंके साथ अन्य कुछ भी पड़ा रहा नो चुम्बक लोहेको ही ग्रहण करता है। चेतना का कहना है हम स्वभावकी तरफसे कभी नहीं बदलेंगे तुम भले बदल जाओ। चेतनके पास आओ तो इसका सदैव उपयोग करो व लाभ लो, ऐसा जो चेतन है वह अपने स्वरूपमें प्रतिभासमान होरहा है। जीवका काम ज्ञान मात्र है। जीव सदा अपने आपमें प्रकाशमान है। यह शरीर जीव नहीं है। जो कि दर्पणमें शरीरको देखकर फूले नहीं समाते, वार वार देखते शृंगार करते, क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक लगाते हैं। क्या विपरीत कार्य है देह तो यह अचेतन है। एक समय एक राजा जीव समझ में नहीं आने से दुखी थे, क्यों कि जीव उनकी आंखों से नहीं दिखता था। वह घोड़ेपर मवार होकर पुरोहित के पास पहुंचे और बोले तुम हमें दो मिनटमें जीव दिखाओ पुरोहितने कहा जो आज्ञा सरकार। किन्तु एक शर्त है आपको हमारे सब कसूर माफ करना होंगे। हां, कर देंगे। तब पुरोहितने हंटर राजासे लेकर राजामें ही ३-४ हंटर जमा दिए। तब राजा दुःखी होकर चिल्लाने लगा। और हे भगवान् बड़ी वेदना है यह कह उठा। तब पुरोहितने बताया जिसे दुःख अनुभवहुआ वह जीव है तथा जिसे पुकारा है वह परमात्मा है। स्वभावमें एकाग्र होकर देखो तो वह स्वयं सबको ज्ञात हो जायगा। स्वभावमें रमण करनेवालेका नाम परमात्मा है, वह भी अपनेमे देखता है। यदि किसीसे कुछ मांगना है तो वह चीज मांगो जो बार बार न मांगना पड़े। अगर धन मांगा तो इज्जत चाहिए, कार्योंमें

विजय चाहिए और अनेकों आवश्यक्तायें बढ़ती जाती हैं। जिस चीजके प्राप्त होने पर पुनः न मांगना पड़े उसकी इच्छा तो सबको होगी। पहल तो यह देखो यह कैसे मिल जाती है एक निजकी रुचिसे एकने देवता सिद्ध किया तो देवता ने कहा बोल तुझे जो मांगना हो सो माँग ले। वह घर पहुंचा और पिताने कहा 'मुझे देवता सिद्ध हो गया सो वरदान देनेको कहा है' इसलिय क्या मांगा जाय। पिताने धन मांगनेको कहा। मां के पास पहुंचा तो बोली आंखे खुल जाने से। इसके बाद स्त्रीके पास पहुंचा तो बोली पुत्र मांग लेना। अब वह चिन्तामें पड़ गया क्या मांगा जाय। अंतिम युक्ति सूझ निकाली, सुबुद्धि आ गई तो देवताने कहता है 'हमारी मां पोतेको सुवर्ण थालमें भोजन करते देखे। इससे उसके तीनों कार्य एक बातमें सिद्ध हो गये। इसी तरह भगवानसे एक बात मांग लो, सब आजावेंगे। चैतन्यस्वभावका दर्शन, आलम्बन लो। सब चीजें आ जायेंगी। चैतन्य स्वभावकी दृष्टि बनाई तो पाप कर्मकी निर्जरा होगी तथा जब तक भव है पुण्य कर्म आवेगा। अन्तमें मुक्ति होगी। जहां परिणमन परके आलम्बन पर है वहां विकल्प बनेंगे। किन्तु जहां कोई विकल्प नहीं है वहां पूर्ण स्वभावकी सिद्धि होती है। जहां विकल्प नहीं छूटे, वहां परपदार्थ होनेसे स्त्री, बच्चोंका गहने आभूषणों की चिन्ता रहती है। लेकिन ठोस वस्तु देर से प्राप्त होती है प्राप्तहो फिर यह स्थाई रहती है। वहही मेरा स्वभाव है विकल्प स्वयं अचतन हैं क्योंकि विपाक पूर्वक होत हैं। मैं तो ज्ञान मात्र हूं सबसे विविक्त हूं। बच्च आपसमें घोड़े बनकर खेलने लगत हैं। उनकी चेष्टायें भी उसी तरहकी होने लगती हैं। सिरसे सिर भिड़ा कर लड़नेकी भी कोशिश करते हैं। उनकी मान्यता उस समय घोड़ा जैसी हो जाती है। इसी तरह जीवोंकी प्रतीति होने लगे कि मैं तो ज्ञान मात्र हूं कई बार मुंह से उच्चारण करे, जितना बने तब कहें 'मैं ज्ञानमात्र हूं' सबसे न्यारा हूं यह असली मंत्र है। इसको बार बार अधिकसे अधिक कहनेपर माननेपर सुख ही मिलेगा। पर पदार्थोंसे रुचि हटेगी। अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवने लगेगा।

जीव का सही लक्षण क्या है, इसका वर्णन करते हैं। क्या जीव उसे कहते हैं जो वर्णसे सहित हो? या जो वर्णसे रहित हो उसे कहते हैं? क्या जो

मूर्तिक हैं उसे जीव कहते हैं ? या जो अमूर्तिक है उसे जीव, कहते हैं या जो राग महित हो, आदि बातें सामने रख कर उत्तर दो इन सबमें हो जीव नही हैं, जो वर्णादिक कर सहित हैं उनमें तीन कालमें भी जोवत्व नहीं आ सकता। वर्णादिक कर रहित जीव मानोतो इसमें अतिव्याप्तिदोप है। इसलिए यह लक्षणभी ठीक नहीं है । क्योकि वर्णादिकसेरहित धर्मद्रव्य, अवर्म द्रव्य, आकाश और काल द्रव्य भी पाये जाते हैं। मूर्तिक द्रव्य भी जीव नहीं है क्योंकि यहां असभव दोप आता है। अमूर्तिक द्रव्य भी जीव नहीं है क्योंकि इसमं अतिव्याप्ति दोप आता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य भी अमूर्तिक है। जीवका लक्षण रागादिक कहो सो यह इसलिए ठीक नहीं है कि कुछ जीवोंमें रागादिक हैं और कुछ में नहीं हैं। इसमें कोई जीवका लक्षण नहीं है, वहाँ अव्याप्ति दोप है। तव जीवका लक्षण क्या है ? चेतना जीवका लक्षण है। चैतन्य सब जीवोंमें है। जीवका स्वभाव ही चैतन्य है। इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, एव असंभव दोप नहीं है। जीवोंमें प्रतीति बैठी रहती है कि मैं जैन, अजैन, सेठ, निधन, विद्वान, मूर्ख, त्यागी, ब्रह्मचारी हूं। चेतना मात्र हूँ उसकी खबर नहीं है। मैं जैन हूँ और चैतन्यकी खबर नहीं है तो यही पर्यायबुद्धि है मिथ्या बुद्धि है। जिसमें चेतना हो वह जीव है। जीवलक्षणसे ऐसा ज्ञानी जीव अनुभव करते है। अनुभव, चिन्तवन, बोली, वाणी, रागद्वेप ख्याल, विचार, मोह, ये सब अजीव हैं। यह अचरजसा लगता होगा कि ख्याल, विचारभी, अजीव हैं। यह सब क्षणिक २ चीजें बताई हैं। जोव नित्य है और विचार अनित्य है, ख्याल अनित्य है। फिरवह सव जीव कैसेहो जावेगा तथा जो अन्योंकी जानकारी हो रही है, वह भी अजीव है। शुद्ध चैतन्य मात्र जीव है।

दूसरे का चैतन्य हमारे लिए जीव है या अजीव ! अजीव है। क्योंकि हमारा जोवत्व हममें है। सिद्धोंका जीवत्व सिद्धोंमें है। सत्त्व और चैतन्य सबका भिन्न २ है। निजको निज कब जाना जाता है, जब परको पर जाना जाता है। यह बात जब समझमें आती है तब मनमें उल्लास होता है। छोटी २ बातोंमें उल्लास होता है। इसी तरह अपने स्वरूपका परिज्ञान हो तथा सही रमण हो जाय तो उसका तो कहना ही क्या है। अनादि कालका

जो मोह लग रहा है सो जीव अनेक नाच नचता है। जीव चेतना मात्र है यह कब अनुभव होता है मोहमेंतो होता नहीं। दतिया रियासतमें एक घटना हुई। राजा हाथीपर बैठा कहीं जा रहा था वहां एक कोल्ही शराब पिये हुए था सो कहता भोरे रजुआ तू हाथी वेचेगा। राजाको यह बात खटकी कि इस साधारण आदमीकी इतनी ताकत। राजा उसे खत्म करनेको तैयार होगया तब मंत्री बोला, न्याय यहां न करके राजदरबारमें करना। राज दरबारमें वह मनुष्य बुलाया गया। कोल्ही डरता २ राजा के समीप आया। राजा बोले क्यों तू मेरा हाथी खरीदेगा। कोल्ही बोला आप कैसी उल्टी सीधी (बिना सिर पैर की) बात कर रहे हो'। फिर से राजा ने कहा 'मेरा हाथी खरीदेगा'। तब कोल्ही कहता है 'राजा साहब आप नशा तो नहीं किये हैं'। मंत्रीजी बोले हाथी यह नहीं खरीद रहा था, इसका नशा खरीद रहा था। तब कहीं राजा सन्तुष्ट हुआ।

यह मनुष्य अभिमान नहीं कर रहा है, इसका पैसा अभिमान कर रहा है। हितोपदेश में एक कथा आती है। एक सन्यासी था उनका सत्तू प्रतिदिन एक बड़ा मोटा चूहा खा जावे तो सन्यासीने सत्तूको खूंटीपर टांग दिया। वह कूद २ कर वहांसे भी खा जावे। चूहा खूब मस्त हो चुका था। यहबात सन्यासीको विदित हुई। सन्यासीने सोचा यह रहता कहां है, देखाभाला, जिस बिलमें रहता था उसे खोदा वहां धन निकला, निकाल लिया। कुछ दिनोंमें वही चूहा निकला तो शरीरसे काफी दुबला पतला हो चुका था। अब सन्यासी सोचता है कि इसका अर्थ निकल चुका है. इसी कारण दुर्बल हो गया है। इसके अंग मात्र रह गये हैं। इसी तरह यह जीव नहीं नच रहा है विषय कषायोंमें मदोन्मत्त होकर ही नृत्य कर रहा है। आश्चर्य है कि यह मोह क्रिया किस प्रकारसे नचा रही है। इसकी श्रेष्ठ औषधि भेदविज्ञान है, शुद्ध दृष्टि जहां है वहीं शुद्ध चैतन्यका अनुभव है। मोहीके २४ घंटा यह अनुभव रहता है मैं मनुष्य हूं, मैं स्त्री हूं। इसके विपरीत सोचें किमैं कहां इस तरहका हूं, शुद्ध चैतन्य मात्रआत्मा हूं। यही बारबार अनुभव आजावे। कहां मेरा मकान है, कहां मेरा परिग्रह है, कहां मेरे बन्धु जनका, मित्रोंका समागम लगा है। मैं केवल एक

हूं। ऐसा यह चैतन्यका स्वरूप निराला है। स्वरूप तो अचल है। यह अविवेक व पुद्गल नचता तो नचो। महान अविवेकके नाटयमें भीयह नहीं नच रहा है किन्तु नाचते हुए जीवमें महामोहका जीवन नच रहा है। विकार नच रहा है, उसीकी यह महिमा है। निरपेक्ष स्वभावभर देखो तो यह बात ज्ञानमें आजावे वर्णादिमान जो पुद्गल हैं वही नचते हैं। „देह चलता है उसके विकार होते हैं मैं तो एक शुद्ध जीव हूं। मैं कैसा अच्छा हूं इत्यादि विकल्प पुद्गलके विकार हैं। मेरा तो स्वरूप शुद्ध चैतन्य धातु है। एक संस्कृत क्रियामें धातु होती है। तथा दूसरी सोना, चांदी, पीतल तामा आदिको धातु कहते हैं सोना आदिके अनेक जेवरात रूपक बन जाते हैं। संस्कृतमें धातुओंसे अनेक शब्द बन जाते हैं। प्रत्यय विकार आदि धातुपर ही लगते हैं। उसी तरह जीवको पर्यायोंके स्रोत होनेसे चैतन्य धातु कहते हैं। हां मर्मकी इतनी बात है कि स्रोतको देखे तो विकार न हो। अपने बारेमें इतनी शुद्ध निर्मलता लावे तो कुछ भान होता है। जो अधिक पढ़ लेते हैं कहते हैं,वे, अभी तो हम कुछ नहीं जानते। तथा जो थोड़ा सा ही पढ़े होते हैं, वह अपने सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं। तथा जहां आत्माकामर्म पहचान लिया जाता है वहां ज्ञानीसोचता है मेरी सारी जिन्दगी अज्ञानमें गई। पूजा, भक्ति, तीर्थ यात्रा जो भी कार्य किया वह आत्म बोध बिना किये तो सब अज्ञानमें किये। किन्तु रूढ़िपर चलनेवाले अपनेको बड़ा धर्मात्मा कहते हैं। ज्ञाता द्रष्टा रहनेके अतिरिक्त जो भी बातें हैं वे सब उन्मत्त चेष्टायें हैं। जाननमात्र हूं यह स्मरण कल्याणकारी है। रुड़कीमें शास्त्र प्रवचन करनेपर ५० आदमी जैन आवे तो १०० अजैन आवे। कुछ दिन प्रवचन सुनती २ एक पढ़ी लिखी अजैन महिला अवसर पाकर मन्दिरमें हमारे पास आई और बोली एक दुःख मुझे ज्यादा बना रहता है कि यह ,कैसे अनुभवमें आवे कि मैं स्त्री नहीं हूं ? इससे उदास बनी रहती हूं। भैया जानते तो सभी लोग हैं आत्मा चैतन्यमात्रहै। हमने उसे समझाया तुम अपने लिये स्त्री पनेके एवं पुरुषपनेके विकल्पसे रहित शुद्ध चैतन्यपनेका निरालो ही रटन लगाओ तथा अभ्यास करो तो तुम्हें कोई दुःख नहीं होगा। मूल बात–शरीरसे

ही अपनेको भिन्न समझो। शरीरकी वजहसे वेदपनाका नियम नहीं रहा तो स्त्री और पुरुषका अनुभव करना कार्यकारी नहीं है। देखो स्त्री और पुरुषदोनों अपने लिए मैं शब्दका प्रयोग करते हैं कोई स्त्री अपने को गुरु गुरुरानी की तरह मैं म्यानी नहीं कहती। तथा तुम शब्दका भी दोनोंको समान प्रयोग होता है इसमें भी कोई तुम तुमानी नहीं कहता। मैं मैं और तुम तुम इसमें कहां वेद आया मैं में कहां लिंग है, कहां चिन्ह है।

ज्ञान ही शरीर है, ढांचा है ऐसा ज्ञान हो आत्माका स्वरूप है। इस प्रकार ज्ञानरूपी करोंतीसे अज्ञानके टुकड़े २ कर देना चाहिये। भेदविज्ञानरूपी छेनी ही कर्मभेदकी सफलताका कारण है।

'गले पड़े बजाय सरे' देहातोंमें स्वांग करते समय किसीके गलेमें ढोल डाल दिया जायें मगर वह बजावे नहीं तो बुद्धू समझा जाता है। किन्तु बजाना न जाननेपर भी ठोकने लग जाय तो आदमी खुश हो जाते हैं और मजाकपनेका नाश होकर विनोद बन जाता है। इसी तरह गृहस्थी, दुकानदारी, नेतागिरी आदि गले पड़ी है तो उसे निरपेक्ष भावसे करता हुआ भी नहीं करनेके समान है। क्योंकि 'गले पड़े बजाय सरे'।

परमेष्ठी जैसा कार्य करना मेरा कर्तव्य है जो परमेष्ठी देवोंने किया वह मेरा करनेका कार्य है। ज्ञानरूपी छेनीके द्वारा जीव और अजीवके भेद हो गये तभी ज्ञाता बन गये। तब वह ज्योति प्रकट होती है कि सारे विश्वमें व्याप्त होकर प्रकाशमान हो जाती है। हम कम ज्ञानी हैं, कुछ भी स्फूर्ति नहीं है। यह सब पर्यायबुद्धि ने कर दिया है। यह जीव अपराध कर रहा है यह पर्याय बुद्धि ही का संस्कार है। चीज कुछ है मोही मानता कुछ है भेदविज्ञानके द्वारा आत्मामें अन्तर्मुहूर्त भी ठहर जाय तो ऐसी ज्योति प्रकट हो कि सारे विश्व में फैल जावे पर पदर्थकीआसक्ति आत्मकल्याण नहीं होने देती। मैं कुछ कर लूं, कुछ करूंगा या करता था यह आशा संयम नहीं होने देती संयम सुखका बीज है। समाधिमरण सबका सार है यदि मरण नहीं संभला तो दुःख ही हाथ लगेगा। जो जैसा चाहे वह वैसा प्रयत्न कर लेवे, थोड़ा आरम्भ से मनुष्य गति मिल सकती है, अधिक आरम्भ परिग्रह नरकका कारण

है छल कपट तिर्यंच गतिमें भगायेगा। सरल परिणाम होना देव गतिका कारण है। उमास्वामीके सूत्र हित के लिये अमृत देनेको समर्थ हैं। अपने स्वरूपकी आराधना करो। कितने ही मरते समय देख रहे हैं कि जो जितना भी धन कमाता है उसके साथ कुछ भी नहीं जाता। जिन्हें संयोगमें बुद्धि रहती है उन्हें मरणमें अधिक दुःख रहता है। किन्तु जो भेदविज्ञान पूर्ण जीवन विताते हैं वे अच्छा सुख पाते हैं। यहाँ कुटुम्ब रूपी वृक्षपर संसारी प्राणियोंका समागम हुआ है। प्रातः होते ही अपना नीड़ छोड़ कर चल देंगे। यही दशा हम सबकी होगी। फिर भी न चेते तो इससे अधिक कौन अज्ञानी है। जैसे सफर करते समय रास्तेमें २,४ मुसाफिर मिल जाते हैं तो मिल जुल कर अपने सुख दुःखकी बात कर लेते हैं। उसी तरह यहां मुसाफिर मिल गये है, कुछ समय दुःख के स्वप्न देखेंगे फिर मुसाफिर अपने गन्तव्य स्थानपर चले जावेंगे। यही दशा हमारी है। हम स्वयं मुसाफिर है। पूछने लगतेहैं आपका भैया कितने वर्षका हो गया? तो कहेंगे उत्तर मिलता है ८ वर्ष का हो गया। कहनातो चाहिये ८ साल मर चुका या ८ साल बीत गए किन्तु परिपाटी विपरीत चल रही है। इसी तरह अन्यसे पूछनेपर कहा ४० साल का हो गया। कहना यह चाहिए ४० साल बीत गये, मर गये, २० वर्षका जीवन और बचा अन्दाजन। इन दृष्टियोंमें यही बात किया करें इसमें यथार्थता ज्ञानमें रहेगी तब प्रतीति व शान्ति सच्ची होगी।

यह पर्याय वह दशा है जिसमें बचपन, यौवन एवं वृद्धावस्था सम्बन्धी अनेकों दुःख है। इसमें क्रोध, विषय, इच्छा, द्वेष मत्सर, ईर्ष्या आदि न जाने कितने २ विकार होते रहते हैं। फिरंगी मन इच्छा करते ही इनमें शीघ्र चला जाता है और मोही उनमें संलग्न हो जाते हैं। इनमें जो प्राणी आत्मदृष्टि की बुद्धि रखता है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। मिथ्यादृष्टि शब्दमें मिथ धातु है अर्थात संयोग होना। मिथ्याबुद्धिवाले के मिथ्यात्व कहा जाता है। पदार्थ अलग २ हैं, उनमें संयोगवाला मानित करना तथा पर्यायमें आत्मबुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है। जो स्वमें स्थित है वह स्वसमय है तथा जो परमें

लगे हैं उन्हे अपना समझ रहे हैं वह परसमय हैं। आत्माके स्वभावको प्राप्त होवे सो *स्वसमय* और पर्यायको प्राप्त होनेवाला परसमय है। आत्माके स्वभावको प्राप्त होना एव उसी में रमण करनेका अभ्यास करना क्योंकि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं। उसी स्वभावकी आराधना *करो यही आत्माका स्वकार्य है। जब आत्माके स्वभावमें समर्थ हुए तब भी* कभी २ भ्रमबुद्धिसे परमें आसक्त हो जाता है तो उसे जब चेत आता है यकायक संभल कर सोचता है, मैं कहां अनर्थमें जा रहा हूं। दो आदमियोंने धोबीके यहां चादरें धुलनेको डाली उनमें धोबीके घर एक व्यक्ति जाता है और चादर मांग लाता है, उसे यही ज्ञात है कि यह मेरी चादर है। इस लिए वह चादर लाकर पैर पसार कर चादर ओढ़ कर सो जाता है। इतनेमें दूसरा व्यक्ति चादर लेने धोबीके घर जाता है तथा उसकी चादर नहीं मिलती है और पता चलता है पहला व्यक्ति ले गया है, तो वह दौड़ २ पहले व्यक्तिके पास आकर और चादरका खूंट पकडकर खींचकर कहता है कि यह चादर मेरी है। अब दोनों कहते मेरी है। तब दूसरे आदमीने अपने पहिचानके निशान बता कर उसे समाधान कराया और चादर ले ली। इसी तरह प्रत्येक प्राणी सोचे यह मेरी पर्याय पर है, इसे क्यों भ्रमबुद्धिसे अपनी मानूं। दूसरेके द्वारा ज्ञानके सही निशान बतानेपर पर्यायसे ममत्व बुद्धि हटाकर स्वात्मबुद्धिपर दृष्टि लगानेकी कोशिश करे तब इस संसाररूपी जालसे निकल सकता है अन्यथा भ्रम बुद्धिसे सोता रहनेसे दूसरा आकर परेशान करेगा वहशान्ति नहीं लेने देगा। अनेक भव धारण किये सभी को गफलते मैंने भोगी अब जैनधर्मरूपी अमूल्य रत्नका उपदेश मिला है इसे मैं क्यों न स्वयंका अंग बनाऊं। अनुभव करें मैं नित्य हूं, अविनाशी हूं, चैतन्यमय हूं। सच्चे सुखका भोक्ता हूं। अपने स्वभाव मैं रुचि होवे और परमें नहीं जावे इसीके लिए स्वाध्याय है तत्त्वज्ञान है।

पहले सुन लिया था कि कोईब्रह्म ही दुनियामें एक तत्त्व है तब अपनेको बाहर करके बाहरमें उपयोग लगाता था। अब जान लिया ज्ञान मात्र तत्त्व है संपूर्ण समस्यायें हल हो गई इसीतरह सब अन्य २ हैं। जिसे अनेकान्त दृष्टि प्राप्त

हो गई, उसे जो परिग्रह लग रहे थे वह जहरके तुल्य प्रतीत होने लगे । पदार्थ के विपरीत चिन्तवनसे आकुलता २ ही होती है । यह देह भी मेरी नहीं तो वेकार ममकार क्यों करूं । मैं तो आत्मामात्र हूँ । बड़े २ त्यागी कठिन से कठिन परग्रिह सहन कर लेते है , उन्हे उनसे कष्ट या अनुभव नहीं होता । उन्हे इतनीं चिन्ता नहीं कि मैंने इतना धर्म नही कर पाया, इतना और कर लूं यह भाव नहीं रहता है । उसे यह ज्ञान रहता है: मैं आत्मस्वभावमात्र हूं । मैं २—४ वर्ष और जी लूं तथा धर्म कर लूं यह भी दृष्टि नहीं रहती, रहती है केवल आत्मदृष्टि । मकान दूसरा वदलना है । देखो, आत्मस्वभावकी दृष्टि न छूटे अधिक जिन्दा रहे तो भी क्या और मरणको भी प्राप्त हो गये तो क्या । आत्मस्वभावपर से दृष्टि नहीं हटे तो सर्वत्र अच्छा है तथा आत्म स्वभावपर दृष्टि नहीं है तो अधिक जिन्दा रहनेसे भी क्या और जल्दी मरनेसे भी क्या लाभ? आत्मस्वभावदृष्टिसे रहित होकर अनेक शरीर रूपी कोठोंमें भी रह कर मृतके समान है । अनेक कमरोंमें से प्रदीप्त होता हुआ भी एक रत्न वही एक स्वरूप है । अनेक पदार्थों में अविचलित आत्मा द्रव्य है उसे एक ही प्रकारसे देखो। इस चौकीको शास्त्रप्रयोजनसे देखो, नीली पीली, सफेदसे क्या मतलब । पुत्र अपने ढ़ंगसे पिताको देखता है पिता अपने ढ़ंगसे पुत्रको देखता है । इसी तरह आत्मा तो एक ही है , पर्यायें अनेक धारण कर रहा है । कल्याणार्थी आत्मस्वभावकी दृष्टि रखता है । पर्यायोंमें मुख्यता न रख कर चैतन्य स्वभाव नजरमें आवे ऐसी दृष्टि करो । अनेक स्थानोंमें गया यह जरूर किन्तु आत्माका एक अविचलित स्वभाव है उसके अनुरूप चलना यही आत्मा का व्यवहार है । वह ज्ञाता द्रष्टा है प्रतीतिमें जिसके चैतन्यमात्र है । जंयाकार हो गया तब भी स्वरूप चेतना मात्र है । जो जैसा है वही बोधमे आया, इसी का स्वीकार किया है । अगर आपका मन किसी काम में न लगे तथा केवल पूर्ण विश्रामसे वैठ जावे तो आप उत्कृष्ट दानी है । जिस ज्ञानी जीवकी आत्मस्वभावमें दृष्टि हो गई वह कार्य करते हुए न करनेके समान है ।

मोक्षमार्गमें स्थित निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है । किन्तु मोहसहित मुनिश्रेष्ठ

नहीं है । तुलना करने से भी क्या लाभ है ? अपनी परिणतिसे ही तो लाभ होगा । ज्ञानी अपने कर्तव्योंको निभाता हुआ चलता है । साधुओं, पण्ड़ितों, मन्दिरों, तीर्थयात्रा, व्यापार, गृहस्थी सभी का ध्यान रखता है, फिर भी अपने परिणामोंके अनुकूल परिणमन कर रहा है । प्रतिकूल बात हो गई, कोई गाली गलोज बक गया, कुछभी कर गया तो उसे कोई बात लगती नहीं है । उसे अन्य बातोसे प्रयोजन नहीं है । अगर वह अपनेको मनुष्य प्रतीत करे तो धन कमाने लोमोह रखेगा, वोटें लेगा, कीर्ति बढानेके कार्य करेगा आदि । पर ज्ञानी जोब इनसे व्यवहार नहीं करता। किसी साधुसे कोई कहे हमें किताब चाहिए तो कहेगा में यह है' वह यह नहीं सोचेगा, यह मुझे भेंटमें मिली, मेरा नाम पड़ा है, तुम्हे नहीं देता हूं । किताब देकर पुनः आत्मस्वभावदृष्टिमें लग जायगा । साधुओं का पर पदार्थमें लगार मोह नहीं रहता । शरीरसे नग्न होनेका प्रयोजन ही यह है तुम सब बातोंसे नग्न हो जाओ । वह अन्य बातोंसे प्रेम नहीं करता । जिसे अपने आत्मस्वभावकी खबर हुई है वह रागादिको भूल जाता है । परसे उदासीन हो जाता है । उदासीन = उत् + आसीन = उत्कृष्ट पद्में, समाधिमें रत होनेवाला जिसमें निष्पक्षता, निर्मलता, विरक्तता है उस पद में स्थिर रहना ।जो कहते हैं यह घरसे उदासीन है उन्हें यह न कह कर आत्मामें उदासीन है घर से विरक्त है ऐसा कहना चाहिये । अर्थात आत्मामें उत्कृष्टपदसे बैठा है यह उदासीनका अर्थ है । किन्तु रुढ़ि अर्थ हो जानेसे शब्द अन्य अर्थमें प्रचलित हो जाते हैं ।

पर द्रव्योंको अपना २ कर दुखकी संतति बढ़ाते जा रहे हैं लोग। जितने पर पदार्थपर दृष्टियां है उतनी ही व्याकुलतायें हैं । लेकिन जिसने समस्त पर द्रव्यों की सगति हटा दी उसे आत्मतुष्टि ही प्रतीत होती है । जिस बच्चेको अपना बढ़िया खिलोना मिल जाय तो वह दूसरेके खिलौनेको क्यों रोवेगा ? इसीतरह जिसकी निजमें संगति हो गई उसने सब कुछ पा लिया । कभी २ एक दूसरेकी बुराई करते समय कहा जाता है तुम मन्दिर नहीं जाते, शास्त्र नहीं पढ़ते, पूजन नहीं करते । किन्तु हमरे इस कहनेसे क्या लाभ निकलता है । मन्दिर, शास्त्र पूजन आदि उसके मनमें नहीं माये हैं, उसे मन्दिर आदिसे बढ़िया अन्य

कार्य जच रहे है तभी तो वह ऐसा कर रहा है। मन्दिर वगैरह की बात उसे जचे, गले उतरे, रुचि बढ़े तभी तो वह इच्छा करेगा। मेरे विचारमें इन कार्यों में जबर्दस्ती न करके धर्मके मुख्य सिद्धान्त समझाये जावें, उस सम्बन्धी उपदेश दिया जावे, महापुरुषोंके जीवन चरित्रको जों धर्ममें लगनेका कारण है बताया जावे तो हो सकता है वह अपनी भूल स्वीकार कर लेवे और रास्ते में आजावे। नहीं तो जबर्दस्ती करनेका फल यह भी हो सकता है उनके मनमें धर्म कार्यों में घृणा की भावना घर कर लेवे तथा उनसे सदैव को निवृत्ति पा लेवे। मैं एक ऐसे एक पुरुषको जानता हूं जिनसे छात्रावस्थामें कहा गया तुम्हे मन्दिर जाना होगा। इस सुपिरिनडेंट की ताड़नासे वह नियम सा ही ले चुके कि कभी भी मन्दिर नहीं जाऊंगा। जबर्दस्ती करके मन्दिर पहुंचानेपर वह मन्दिर न जा कर होटल आदिमें चाय पीवेगा और आजावेगा। इसलिए अच्छे उदाहरणों द्वारा समझा कर कार्यमें प्रवृत्त करना श्रेयकर है इससे रात्रि भोजन, अभक्ष्यभक्षण आदि न करनेके नियम तक जीवनमें निभ सकता है। अजैन लोग रात्रिभोजन न करने, अभक्ष्यभक्षण न करने जैसे बड़े नियम ले लेते हैं। तो क्या वह डडाके डरसे लेते है ? नहीं, उनके जीवन में यह भावनाजाग्रत हो जाती है 'मैं किस धरातल पर जा रहा हूँ व क्या करना कर्तव्यहै

जितने मन्दिर हैं उतनी पाठशालायें होना चाहिए। जो मन्दिर बनावे उससे कह दिया जावे कि साथमें पाठशाला भी बनवाओ तो मन्दिर बनाना अति श्रेष्ठ है मुसलमानोंमें यह होता है जितनी उनकी मसजिदें हैं प्रायः उतने उनके स्कूल चलते है। जिस मुहल्लामें जितने बालक हों वे उस पाठशालामें आकर पढ़ें ज्ञानार्जन करें। जिसको अपने स्वभावका बोध हो जाता है वह परको छोड़ देता है और परम उदासीनाको धर लेता है। मोही किसी न किसीको सहाय मान रहे है, पर द्रव्योंको अपनानेसे। बच्चोंको देखो कोई मां के संस्कार द्वा धर्मकार्यों में प्रवृत्त हो जाता है कोई पिताका साथ करके या अन्य भा मित्र एव ग्रामके किसी विशेष व्यक्तिसे प्रभावित होकर आत्मकल्या सम्बन्धी कार्य करनेकी प्रकृति डाल लेता है। संगतिका प्रभाव होता है। य कोई आत्मस्वभावकी संगति करे तो उसे क्या मिलेगा जो मिलेगा

वर्णनातीत है। स्वकी संगति ही स्वसमय कहलाती है। स्वभाव बनने से ही लाभ है। चक्रवर्ती, नारायण, कामदेव आदिके श्रेष्टपद मिल गये, यह कमाने से नहीं मिल गये, उन्होंने पूर्वभवमें धर्म किया था उसका प्रताप रहा कि इच्छित भोग चरणोंमें आ पड़ते हैं। आत्मस्वभावकी भावना करे तो क्या मिलना दुर्लभ रहेगा! न किंचिदपपि दुर्लभ विद्यते।

धर्मका फल तो निराकुलता, शान्ति व मुक्ति है। पुण्यका फल ऐहिक सुख है। पापका फल दुःख है। इनमें से ऐहिक सुख व दुःख दोनों आकुलतासे परिपूर्ण हैं। इनका निमित्तभूत पाप व पुण्यकर्म भो पौद्गलिक, अज्ञानमय पर पदार्थ है। पुण्य, पाप कर्मका निमित्तभूत पुण्यभाव व पाप भाव दोनों पराश्रयज भाव हैं। केवल धर्मभाव ही स्वाश्रयज है। स्वके पड़ौसमें, समीपमें रहने वाले कौन कौन पर भाव हैं, उनका इस अजीवाधिकारमें संकेत करके उनका निषेध किया है। उन पर भावोंके आश्रयसे धर्मभाव नहीं हो सकता। धर्मभावके विना आत्माकी सिद्धि, समृद्धि नहीं हो सकती है। अतः इन सब पर भावोंकी दृष्टि त्याग करके एक अखंड, सनातन शाश्वत ध्रुव परमपारिणामिकभावमय ध्रुव चैतन्य स्वभावी स्वका अनुभव करो।

ॐ शुद्धं चिदस्मि।

इस प्रकार अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज के अजीवाधिकार पर हुए प्रवचनों से यह समयसार प्रवचन तृतीय पुस्तक समाप्त हुई।

# श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

## प्रवन्ध कारिणी समिति के सदस्य



---

पुस्तकें मंगाने का पता :—

सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीत पुरी सदर मेरठ (उ० प्र०)